प्रकाशक—
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

मूल्य : ५·५०

प्रथमवार जून, १९५७

मुद्रक—
युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली–८

निवेदन

विगत सात-आठ वर्षों में समय-समय पर लिखे गये मेरे पन्द्रह निबंधों का यह पहला संग्रह है। इस संकलन के प्रायः सभी निबंध किसी न किसी रूप में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों में प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत संग्रह के निबंधों के चयन में मैंने इतना ध्यान रखा है कि वे आधुनिक काल की किसी विशिष्ट कृति या कृतिकार से सम्बद्ध हों तथा विषय और शैली की दृष्टि से आद्योपान्त समीक्षात्मक हों। दो-एक निबंध मेरे इस कथन के अपवाद हो सकते हैं किन्तु उनमें भी समीक्षा तत्व का सर्वथा अभाव नहीं है। समीक्षा को मैं बौद्धिक व्यायाम तक ही सीमित नहीं मानता। मेरी मान्यता है कि समीक्षा के मूल में भी सृजन-प्रेरणा का नैसर्गिक वेग उतनी ही प्रबलता के साथ विद्यमान रहता है जितना किसी भी सरस कृति-साहित्य के मूल में। काव्य कृतियों का रसग्राही भावक समीक्षा लिखते समय शास्त्र-निकष पर रचनाओं के खरे-खोटेपन को ही नहीं आंकता वरन् भावुक के रूप में आत्माभिव्यंजन का आनन्द भी उपलब्ध करता है।

आलोचक प्रवर डा० नगेन्द्र जी ने भूमिका लिखकर इन निबंधों को जो गौरव प्रदान किया है यदि ये उसके अनुरूप सिद्ध हुए तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

—विजयेन्द्र स्नातक

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ डा० विजयेन्द्र स्नातक के समीक्षात्मक निबन्धों का संकलन है। इसमें सब मिला कर १५ निबन्ध हैं जिनका सम्बन्ध आधुनिक हिन्दी साहित्य से है। काल की दृष्टि से एक युग विशेष तक सीमित होने पर भी आलोच्य विषय की दृष्टि से इन निबन्धों में पर्याप्त विविधता है—काव्य, आलोचना, नाटक, उपन्यास सभी लेखक की समीक्षा के विषय बने हैं।

डा० विजयेन्द्र स्नातक हिन्दी के परिचित सुलेखक और सफल प्राध्यापक हैं। उनके अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र व्यापक है। विश्वविद्यालय में वे प्राचीन हिन्दी साहित्य का अध्यापन करते हैं, उनके शोध-प्रबन्ध का विषय था मध्ययुगीन राधावल्लभ सम्प्रदाय और प्रस्तुत संकलन में नवीन हिन्दी साहित्य के अनेक अंगों का विवेचन किया गया है। विविधता के अतिरिक्त डा० स्नातक की आलोचना-पद्धति का दूसरा गुण है सन्तुलन। आधुनिक साहित्य और उसके स्रष्टा हमारे बहुत निकट हैं अतएव उनके विषय में मताग्रह की सम्भावना बहुत रहती है। लेखक ने संयम से काम लिया है और स्वमत तथा विमत दोनों के विवेचन में दुराग्रह को बचाया है। इन निबन्धों का तीसरा गुण है प्रतिपादन की स्पष्टता। यों तो प्रतिपादन की स्पष्टता मूलतः चिन्तन की स्पष्टता पर अवलम्बित रहती है फिर भी इस गुण का अर्जन अध्यापन-वृत्ति में अपेक्षाकृत अधिक सुलभ रहता है। स्नातक जी के विचार सुलझे हुए हैं और वैसी ही सुलझी भाषा में उनका व्याख्यान किया गया है। अध्यापक के लिए एक और भी गुण अपेक्षित होता है और वह है सार-ग्रहण क्षमता। इन निबन्धों में यह गुण भी आपको सहज ही परिलक्षित हो जाएगा। वैसे मैं इस गुण का एक विशेष सीमा तक ही कायल हूँ। किन्तु यह अध्यापकीय वृत्ति की एक मजबूरी है जिससे बचना साधारणतः सम्भव नहीं होता। इस संकलन के कुछ-एक निबन्ध मूलतः भूमिका रूप में लिखे गए थे इसलिए थोड़े प्रशस्ति-परक हो गए हैं : उनको इसी दृष्टि से देखना चाहिए।

अन्त में मैं अपनी शुभकामनाओं सहित डा० स्नातक के इन समीक्षात्मक निबन्धों को हिन्दी-पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ। मुझे विश्वास है कि हिन्दी के शैक्षिक क्षेत्र में इनका समुचित आदर होगा।

हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

नगेन्द्र

अनुक्रम

: १ :

युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य का प्रवर्त्तक या जन्मदाता कहा जाता है। हिन्दी भाषा और साहित्य के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से भारतेन्दु की तुलना उनके पूर्ववर्त्ती या परवर्त्ती किसी भी व्यक्ति से नहीं की जा सकती। साहित्य के माध्यम से जनजागरण और चेतना उत्पन्न करने में जितना योग भारतेन्दु की विविध रचनाओं से मिला उतना पहले के सामूहिक प्रयत्नों से भी सम्भव नहीं हुआ था। इसीलिए भारतेन्दु का साहित्य उत्तर भारत में नव जागरण का प्रतीक है। उनकी प्रेरणा और प्रतिभा द्वारा रीति-कालीन भावधारा का पर्यवसान और नूतन विचार परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ। दरबारी कवियों की शृंगार और विलासपूर्ण कविता से जनता का ध्यान हटाकर उसे राष्ट्रप्रेम, समाज सुधार, देशोद्धार, देशाभिमान और देशोपकार की ओर उन्मुख करने वाले भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम कवि हैं। स्वदेश, स्वभाषा और स्वसंस्कृति की गरिमा का गान करने में भारतेन्दु की ही वाणी सबसे पहले मुखरित हुई। रीति-कालीन साहित्य-साधना का आदर्श एकनिष्ठ था। राजा-महाराजाओं को प्रसन्न और परितुष्ट करने की प्रवृत्ति उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत था। इस परम्परा को समाप्त करने में भारतेन्दु की प्रतिभा ने ही अन्तिम अध्याय लगा और जागृति तथा जीवन-विकास का नया काव्य प्रारम्भ

हुआ। कविता को राजप्रासादों के संकीर्ण प्रांगण से निकाल कर जनता-जनार्दन के समीप ला खड़ा करने वाले आप ही थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य के अभ्युदय एवं उत्कर्ष के लिए तन-मन-धन से आत्मार्पण का मार्ग स्वीकार किया। उनका दान सात्विक कोटि का था जो आत्म-निषेध के साथ परोपकार के उदात्त आदर्श को अपने अंचल में समेटे हुए था। भारतेन्दु की वदान्यता अपने तक ही सीमित नहीं रही वरन् सक्रामक बनकर वह उस युग के वातावरण में छा गई। अपना सर्वस्व त्यागकर हिन्दी की सेवा करने वाले अनेक साहित्यिक उस युग में-उत्पन्न हुए और अपनी शक्ति से कहीं अधिक लुटाकर वे हिन्दी को समृद्ध और सशक्त बना गये।

शताब्दियों की दासता के कारण जर्जर और म्रियमाण देश की अकर्मण्यता को दूर करने के लिए साहित्य को साधना मानने वाले गोस्वामी तुलसीदास के बाद आप पहले व्यक्ति हैं। गोस्वामी जी क्रान्तदर्शी कवि थे, लोकनायक नेता थे, स्वान्तः सुख के लिए लोक सुख का वितरण करने वाले भगवद् भक्त थे। किन्तु भारतेन्दु बाबू युग-चेतना को प्रबुद्ध करने वाले सत्कवि, सद्गृहस्थ और सहृदय कोटि के समाज सुधारक व्यक्ति थे। भारतेन्दु स्वयं भक्ति-भावना से परिपूर्ण काव्य-रचना में लीन रहे, भक्ति की विगलित करने वाली मधुधारा उनके ब्रजभाषा काव्य में दृष्टिगत होती है किन्तु उनकी भक्ति एक दूसरे ही साध्य की साधिका है। वह साध्य है देश, जाति और भाषा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की भावना का प्रचार। भारतेन्दु ने युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का भलीभाँति अध्ययन करके अपनी विलक्षण प्रतिभा तथा गहन दूरदर्शिता द्वारा जो चित्र अपने साहित्य में अंकित किया उसे देख कर उनकी साधना का सहज ही में आकलन किया जा सकता है। समाज और देश के विषय में उनकी कल्पना जीवन्त एवं मूर्त थी, अमूर्त नहीं। किसी ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना वे नहीं करना चाहते थे जो भारतीय पुरातन मान्यताओं से पृथक् किसी दूर देश की कल्पनाओं पर आधृत हो। फलतः उनका समाज और देश-प्रेम व्यक्ति-कल्पना का अपरिपक्व फल न होकर राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक बन गया।

युग-प्रवर्तक की दृष्टि से भारतेन्दु का जन्म इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि वे अपने उदय के साथ नूतन आलोक-पुंज लेकर आये। अपनी बहुमुखीन प्रवृत्तियों द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाने के साथ

आपने उसे अन्य भाषाओं की तुलना में गौरवान्वित बनाने की चेष्टा की। युग की नाड़ी टटोल कर जन-भावना को साहित्य के माध्यम से मुखरित करने का श्रेय एकमात्र आप को ही दिया जा सकता है। स्वदेश और स्वजाति का जितना प्यार और गुमान उन्हें था उतना किसी और को न तब था और न उनके बाद ही वही और देखने में आया। भारतेन्दु ने सबसे पहले हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रसृति के नये-नये क्षेत्र ढूंढने का प्रयत्न किया। भावाभिव्यक्ति के नवीन माध्यम खोज कर उनका सफल प्रयोग किया। साहित्य को अभिव्यक्ति का अखंड रूप मानकर आपने सभी साहित्यिक विधाओं को जीवन-दान दिया। पूरी प्राणशक्ति के साथ सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना प्रबुद्ध करने में आपने अपनी लेखनी को प्रवृत्त किया। इस चेतना को जागरित करते समय आप अतीत परम्पराओं की आसक्ति से दूर नहीं गए। पुरातन को नवीन के श्लाघ्य कलेवर में नूतन आकांक्षाओं के साथ प्रस्तुत करना ही आपकी विशेषता है। उस युग के नैतिक मूल्यों की अवहेलना न करके, उन्हीं मूल्यों के आधार पर काव्य को नवजीवन देना सचमुच कठिन था, किन्तु भारतेन्दु-युगीन सभी साहित्यकारों ने यथाशक्ति उन नैतिक मूल्यों का भार ढोते हुए भी साहित्य को सुन्दर और शिव से मंडित किया है। भारतेन्दु ने कविता के लिए सनातन और चिरन्तन विषयों को ब्रजभाषा में अपनाये रखा किन्तु नाटक तथा अन्य गद्यात्मक कृतियों में वे अद्यतन युगधर्म के पोषक बने। विचारों का प्राधान्य होने से उनकी गद्य कृतियाँ भावात्मक नहीं हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनका मूल्य इसी कारण न्यून है।

साहित्य में युगान्तरकारी परिवर्तन की दृष्टि से भावों और विचारों का परिवर्तन विशेष महत्त्व रखता है। जो कवि या लेखक अपनी कलम से सामाजिक चेतना में क्रान्ति ला सके वह अवश्य ही युग परिवर्तन भी कर सकेगा। भारतेन्दु बाबू इस मापदंड से पूरी तरह युग-प्रवर्त्तक ठहरते हैं। भारतेन्दु की काव्यधारा में जातीय जीवन आन्दोलित हुआ। उन्होंने साहित्यिक स्वच्छन्दता को स्वीकार कर हिन्दी, उर्दू, तथा प्रान्तीय बोलियों को अपने नाटकों में स्थान दिया। भाषा में परिष्कार करने की प्रवृति के कारण उन्होंने एक नई दिशा की ओर साहित्य को गतिशील बनाया। एक द्रष्टा और क्रान्तदर्शी सच्चे आलोचक के रूप में भारतेन्दु ने हिन्दी काव्यजगत् में प्रवेश किया था अतः उनमें युग-प्रवर्त्तन की अद्भुत क्षमता का सहज ही में समावेश हो गया था।

भावक्षेत्र में नवीनता प्रस्तुत करने के साथ ही कला तथा शिल्प विधि के क्षेत्र में भी भारतेन्दु ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। नूतन गद्य शैली का निर्माण, नाटक प्रणयन, निबंध, समाचार पत्र, रंगमंच निर्माण, अनुवाद, साहित्यिक गोष्ठियों की स्थापना, आदि ऐसे अनेक कार्य हैं जो उन्हें युग-प्रवर्त्तक बनाने में सहायक हुए। भारतेन्दु ने एक ऐसे काल विशेष में यह सब कार्य किया जिसके लिए कोई राजकीय या सामाजिक सहायता उन्हें सुलभ नहीं थी। सभी प्रकार की विषम परिस्थितियां सामने थी, व्यक्तिगत भी और सामाजिक भी। किन्तु उन्होंने जो कुछ किया वह आत्मविज्ञापन या आत्मलाभ के लिए नहीं किया; परनिर्वृति और परहित ही उनका ध्येय था अतः सफलता भी उन्हें आशातीत मिली। उन्होंने अतीत और अनागत को हृदयगम करके वर्तमान को प्रगति की दिशा में प्रवृत्त किया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—'भारतेन्दु जी प्राचीन और नवीन के सन्धिस्थल पर खड़े होकर दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का परिवर्तित रूप प्रतीत हो न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु। प्राचीन और नवीन का यह सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का माधुर्य है।'

भारतेन्दु की गद्य-शैली

हिन्दी गद्य-शैली के निर्माण में भारतेन्दु की प्रतिभा ने जो कार्य किया वह पूर्ववर्त्ती लेखकों के सम्मिलित प्रयत्न से भी नहीं हो सका था। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्ववर्त्ती लेखकों की कृतियों से हिन्दी-गद्य का शिलान्यास तो हो चुका था किन्तु उस में सुस्पष्ट अभिव्यंजना और सुरुचिपूर्ण भावनाओं को स्थान नहीं मिल पाया था। अभी तक के गद्य-लेखकों में व्रजभाषा गद्य की टीका-शैली किसी न किसी रूप में वर्तमान थी। मुंशी सदासुखलाल का आदर्श धार्मिक भावनाओं का प्रचार था; लल्लूलाल तथा सदल मिश्र उपदेशात्मक पंडिताऊ शैली का गद्य निर्माण कर पाये थे। इंशाअल्लाखाँ की शैली भाषा की उछल-कूद के साथ उर्दू और फारसी की चुस्ती तक ही सीमित थी। फलतः गद्य का जन्म हो जाने पर भी उपयुक्त प्रतिभा और वातावरण के अभाव में गद्य-शैली को सुन्दर परिधान प्राप्त नहीं हुआ था। भारतेन्दु के समसामयिक लेखकों में "राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के संकीर्ण दृष्टिकोण एवं प्रच्छन्न राजकीय भय से हिन्दी की आत्मा, उर्दू के शरीर में विश्राम के लिए नहीं—मुक्ति के लिए तड़प रही थी।" राजा लक्ष्मणसिंह

के उद्योग से उसे आश्वासन तो मिला था किन्तु उसका विकास ब्रजभाषा की सीमित परिधि के कारण वहाँ भी एकांगी बना रहा। ऐसे संकट के समय भारतेन्दु की प्रतिभा और प्रयत्न से हिन्दी गद्य को विकास के लिए उपयुक्त वातावरण मिला। हिन्दी भाषा के लिए वह संकट की सबसे भीषण घड़ी थी और यदि उसे भारतेन्दु का आलोक प्राप्त न होता तो कौन जाने आज हिंदी का भविष्य क्या होता! गद्य-शैली के आवश्यक उपकरण भाषा, भाव, शब्द, पद, आदि को नवीन कलेवर देकर निबंध, नाटक, कहानी, समीक्षा आदि के योग्य बनाने वाले भारतेन्दु ही सबसे पहले व्यक्ति हैं। हिन्दी गद्य में भावानुकूल अभिव्यंजना की क्षमता तथा प्रौढ़ता का पुट सबसे पहले आपकी ही कृतियों में दृष्टिगत होता है। आपने एक सफल और समर्थ राजनीतिक नेता की भाँति हिन्दी भाषा के क्षेत्र में हिन्दी-गद्य का प्रवर्त्तन किया। उनकी शैली के प्रधान गुण सरलता, सरसता, एवं सजीवता हैं जो किसी भी लेखक को लोकप्रिय बनाने में सहायक होते हैं।

भारतेन्दु ने स्वयं 'लिखने की भाषा' का वर्गीकरण किया है और उसकी बारह शैलियों का निर्देश करते हुए उसमें दो शैलियों को ग्राह्य ठहराया है। जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं और दूसरी जो शुद्ध हिन्दी है। इन्हीं दो प्रकार की भाषा-शैलियों का उन्होंने समर्थन किया है। जिसमें संस्कृत के शब्द न्यून हैं उसका उदाहरण भी आपने दिया है—**सब विदेशी लोग घर फिर आये और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया। पुल टूट गये, बाँध खुल गये, पंक से पृथ्वी भर गई। पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाये। बहुत वृक्ष समेत कूल तोड़ गिराये। सर्प बिलों से बाहर निकले। महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।'**

शुद्ध हिन्दी का नमूना इस प्रकार है—

"पर मेरे प्रीतम अबतक घर न आए। क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फंदे में पड़ गये कि इधर की सुध ही भूल गए! कहाँ तो वह प्यार की बातें, कहाँ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मैं कहाँ जाऊँ, कैसी करूँ मेरी तो ऐसी कोई मुँहबोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ। कुछ इधर-उधर की बातों ही से जी बहलाऊँ।'

इन दोनों नमूनों में भारतेन्दु जी शुद्ध हिन्दी वाले दूसरे उदाहरण को अधिक ग्राह्य मानते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु जी की भाषा-शैली

के दो स्वरूप स्थिर किये हैं। भावावेश की शैली और द्वितीय तथ्य-निरूपण या वस्तुवर्णन की शैली। भावावेश की शैली में भारतेन्दु जी का गद्य निराला है। उसमें सरल हिन्दी शब्दों का प्रयोग है जो उपर्युक्त दूसरे उदाहरण के समीप है। यह उदाहरण भी यथार्थ में भावावेश की शैली का ही है। तथ्य-निरूपण या वस्तुवर्णन में संस्कृत पदावली का प्रयोग स्वाभाविक है। दुर्बोधता को बचाते हुए तत्सम शब्दों में वस्तुवर्णन दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ—

"सुनिए, काशी का नामान्तर वाराणसी है। जहाँ भगवती जन्हुनंदिनी उत्तर वाहिनी होकर धनुषाकार तीन ओर से लिपटी है, मानो इसको शिव की प्यारी जानकर गोद में लेकर आलिंगन कर रही है और उसके पवित्र जलकण के स्पर्श से तापत्रय दूर करती हुई मनुष्यमात्र को पवित्र करती है।"

उपर्युक्त दो प्रकार की शैलियों को स्वीकार करने पर भी भारतेन्दु ने विषय और भाव के अनुरूप अपनी शैली में परिवर्तन करके उसे अधिकाधिक सजीव और सक्षम बनाया है। स्वाभाविक शैली से भावव्यंजना के प्रति जागरूक होने के कारण उनकी भाषा में पात्रानुकूलता, विषयानुकूलता और देश-कालानुकूलता का औचित्य सदा बना रहा है। चन्द्रावली नाटिका का वर्ण्य विषय तथा स्थान ब्रज प्रदेश है अत: ब्रजभाषा-गद्य को उसमें स्थान देने में भारतेन्दु ने कोई सकोच नहीं किया। कृष्ण के साथ बातचीत करते समय चन्द्रावली की सखियाँ ब्रजभाषा ही बोलती हैं। इसी प्रकार 'भारतदुर्दशा' नाटक में एक बंगाली महाशय हिन्दी को बंगला के उच्चारण मे उसी शैली से प्रस्तुत करते हैं जैसे टूटी-फूटी हिन्दी जानने वाला कोई बंगाली भाई कर सकता है। मुसलमान पात्रों से उर्दू का प्रयोग भी नीलदेवी नाटिका में दृष्टिगत होता है। इस तरह के पात्रगत परिवर्तनों के होते हुए भी एक बात जो ध्यान देने की है वह यह कि सर्वत्र हिन्दी भाषा की प्रकृति और अपनापन अक्षुण्ण बना रहा है। यह एक सतर्क एवं जागरूक प्रयत्न है जिसका श्रेय अवश्य ही भारतेन्दु को मिलना चाहिए।

गद्यशैली में सजीवता लाने के लिए भारतेन्दु ने अपनी भाषा में लोकोक्ति एवं मुहावरों का पर्याप्त प्रयोग किया है। इस प्रयोग से भाषा का क्षेत्र विस्तृत हुआ और प्रान्तीय बोलियों का हिन्दी गद्य के साथ गहरा और सीधा सम्बन्ध स्थापित हुआ। उर्दू के जो मुहावरे आपने अपनी भाषा में सजोये उन्हें ऐसा परिधान पहना दिया कि वे सर्वतोभावेन हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप बन गए। दो-तीन उदाहरणों से उनकी प्रयोग-पटुता का परिचय मिल सकेगा।

"(क) कुछ पढ़े लिखे लोग मिलकर देश सुधार करना चाहते हैं। हा, हा, हा! अकेला चना भाड़ फोड़ेगा।"

(ख) ए भाई, कुछ कहना भी तो झख मारना है। पासा पड़े सो दाव, राजा करे सो न्याय।

(ग) हाय मैं किससे कहती हूँ! कोई सुनने वाला है? जंगल में मोर नाचा, किसने देखा!"

गद्य के समान पद्य में भी भारतेन्दु लोकोक्ति-शैली को अपनाते रहे। अनेक कविताओं में सुन्दर मुहावरे और लोकोक्तियों की छटा बिखरी पड़ी है।

भारतेन्दु के नाटक

विषय-वस्तु और अभिव्यंजना में युगान्तर लाने के साथ ही भारतेन्दु की विशेषता उनकी साहित्यिक पुनरुज्जीवन की प्रवृत्ति में परिलक्षित होती है। *नाटक-रचना को भारतेन्दु ने साहित्यिक पुनरुज्जीवन का साधन बनाया।* अपने नाटकों में सामाजिक चेतना के जिन सार्वभौम तत्त्वों का समावेश आपने किया वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। यह कहना भी कदाचित् अत्युक्ति न होगी कि उनके बाद भी जो नाटक लिखे गए वे सामाजिक जागरण की उतनी क्षमता अपने भीतर नहीं जुटा सके। सामाजिक अनुभूतियों की सच्ची प्रतिच्छवि, मनोरंजन और सुधार का जैसा सुन्दर समन्वय भारतेन्दु ने अपने नाटकों में किया वैसा फिर हिन्दी में नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य में नाटकों का यथाविधि सूत्रपात आपके ही नाटकों से समझना चाहिए। विद्या सुन्दर आपका पहला नाटक है जो बंगला से अनूदित है। उसके बाद आपने सात मौलिक नाटक तथा दो अपूर्ण नाटक लिखे। पाँच नाटकों का विभिन्न भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद किया। मौलिक नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, अंधेर नगरी, भारत दुर्दशा और नील देवी पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। आपके नाटकों के विषय सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक तथा धार्मिक हैं। श्रद्धा-परायण जनता की मानसिक परितुष्टि और मनोरंजन के साथ उसे सन्मार्ग की ओर अग्रसर करना आपके नाटकों का ध्येय रहता था। परिवर्तित होने वाले युगधर्म को पुरातन मान्यताओं की सुदृढ़ भूमि पर अंकित करना आपका नाटकीय उद्देश्य था जो बिना किसी बाह्य दबाव के आपकी नाट्य कृतियों की पृष्ठभूमि बना। देश की दुर्दशा के मार्मिक चित्र अंकित करने

के साथ उसके प्रतिकार के उपाय सबसे पहले आपके ही नाटकों में दृष्टिगत होते हैं। लोकजीवन की प्रेरणा के वे आधार कहे जा सकते हैं।

शिल्पविधि या टैकनीक की दृष्टि से भी भारतेन्दु ने अपने नाटकों में नवीन धारा प्रवाहित की। प्राचीन मर्यादाओं का भली भाँति अध्ययन कर उनके त्याग या ग्रहण का आपने मध्यम मार्ग निकाला—यथार्थ में न तो आपने प्राचीन परिपाटी का बहिष्कार किया और न उसकी जटिलता या दुर्बोधता को आपने नाटकों में रखा। आधुनिक नाट्य कला के उन सभी उपयोगी तत्वों के सम्मिश्रण से आपने अपने नाटकों का सर्जन किया जो सर्वप्रिय बनने के साथ उपादेय भी बन सके। यदि सामाजिक स्वीकृति को नाटकों का अनिवार्य तत्व माना जाय तो भारतेन्दु के नाटकों में वह प्रचुर मात्रा में है और इस कसौटी पर उनके नाटक यथार्थवाद के अधिक समीप सिद्ध होते हैं। यथार्थवाद से जो अर्थ आज लिया जाता है उसे छोड़कर यथातथ्य से ही हमारा यहाँ प्रयोजन है।

भारतेन्दु की नाटक रचना का आधार मूलतः प्रगति की ओर है, जर्जर रूढ़ियों से पराङमुख होकर ही भारतेन्दु ने नाटकों में सजीवता के सर्वप्रिय गुण का संचार किया था। यही कारण है कि नाटक रचना का उद्देश्य जैसा भारतेन्दु-युग में सजीव और स्वस्थ रहा, वैसा उसके बाद नहीं रह सका। भारतेन्दु-युग के बाद और प्रसाद-युग से पहले जो नाटक लिखे गए उनका स्तर न तो साहित्यिक दृष्टि से उच्च था और न उनमें सामाजिक चेतना को प्रबुद्ध करने का ही आवश्यक गुण था। उनका धरातल नाटक कम्पनियों के निम्न स्तर तक ही सीमित रहा। प्रसाद-युग में स्वयं प्रसाद जी की लोकोत्तर प्रतिभा से नाटकों की एकांगिता नष्ट हुई और उनमें पुनः नवजीवन संचार हो सका। किन्तु हमें यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए कि भारतेन्दु के नाटकों की सी सजीवता और सामाजिक प्रतिच्छवि प्रसाद के नाटकों में भी नहीं आ सकी। प्रसाद के नाटक साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही उच्च कोटि के हैं, उनमें अतीत की झाँकी है, भविष्य का सुन्दर स्वप्न है किन्तु वर्तमान की दयनीय दशा का चित्रण नहीं है।

भारत दुर्दशा जैसे प्रतीकात्मक नाटक की रचना भारतेन्दु ने एक विशिष्ट उद्देश्य को सामने रखकर की। भाव और विषय की दृष्टि से उदात्त न होने पर भी इसकी युग-चेतना इतनी प्रबल है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति करने

में विलक्षण काम करती है। नाटक को दुखान्त के समकक्ष बनाने में भारतेन्दु का जो प्रच्छन्न प्रयोजन है उसे यदि भली-भांति हृदयंगम किया जाय तो उनकी सूझ-बूझ पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहा जाता। इस नाटक द्वारा, भारतवर्ष दो रूपों में पाठक या प्रेक्षक के समक्ष, आता है—एक रूप है पराधीन भारत का जो सब प्रकार पीड़ा, यातना और कष्ट सहकर अधोगति को प्राप्त हो चुका है, दूसरा रूप उस स्वाधीन भारत का आता है जो कभी उन्नति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ था। भाग्यवादी विचारधारा पर चोट करते हुए भारतेन्दु ने भारतीय जनता को परिश्रम और लगन के साथ उठ खड़े होने का सन्देश दिया है। यह संदेश अतीत गौरव के माध्यम से दर्शक या सामाजिक के हृदय-पटल पर एक ऐसी छाप छोड़ जाता है जो उसे अपने वर्त्तमान के प्रति असन्तोष और विगर्हणा से भर देता है।

नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु ने शिल्प की दृष्टि से विविध प्रयोग भी किये। प्रहसन, गीतिरूपक नाटिका, भाण, सट्टक आदि शैलियों में नाटक रचना करना उनकी विलक्षण प्रतिभा और अद्भुत क्षमता का परिचायक है।

नाटक रचना के साथ ही जन-जागरण के निमित्त भारतेन्दु बाबू ने समाचार पत्र प्रकाशन की ओर ध्यान दिया। भारतेन्दु के उदय से पूर्व हिन्दी में तीन-चार साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र प्रकाशित हुए थे किन्तु हिन्दी प्रेमियों की तृप्ति करने में कोई भी पूर्ण रूप से समर्थ न था। भारतेन्दु ने इस अभाव का अनुभव किया और अपने ही बल पर चार समाचार पत्रों का प्रकाशन किया। कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन, चन्द्रिका और बाल-बोधिनी नाम से चार पत्रिकाएं प्रकाश में आईं। खेद है कि भारतेन्दु की आर्थिक स्थिति तथा हिन्दी प्रेमियों की उपेक्षा के कारण ये पत्र-पत्रिकाएं स्थायी रूप ग्रहण न कर सकीं। किन्तु इनका साहित्यिक मानदण्ड उस युग को देखते हुए श्लाघ्य कहा जा सकता है।

कृतित्व के विविध क्षेत्र

साहित्य-साधना में लीन रहने वाले इस महापुरुष की दृष्टि कितनी व्यापक और पारदर्शी थी यह उसके कार्यों की विविधता को देख कर ही समझ में आ सकता है। नाटक और नाट्यशास्त्र की रूपरेखा देकर भारतेन्दु ने निबन्ध, समालोचना, उपन्यास, काव्य, इतिहास और अनुवाद का जो महान कार्य किया वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में सदैव अमिट अक्षरों में अंकित

रहेगा। 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'कुछ जगबीती कुछ आपबीती', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' आदि निबन्ध व्याख्या, विवेचना तथा वर्णना की दृष्टि से बड़े सुन्दर हैं। 'रामायण का समय', 'उदय पुरोदय' आदि आपके ऐतिहासिक अनुसंधान-परक लेख हैं। 'हिन्दी भाषा' नाम की आपकी समीक्षा-शैली पर लिखी एक लघु पुस्तक है जो गुण-दोष-विवेचन की शैली पर आलोचना का आभास देती है। कविता के क्षेत्र में यद्यपि आपने ब्रजभाषा को ही साहित्यिक आदर्श भाषा स्वीकार किया किन्तु विषय की अनेकता तथा छन्दों की नवीनता का विधान करके उसकी संकीर्णता को मिटाया। ब्रजभाषा भी लावनी, गजल, ख्याल और कजली के नूतन परिधान में नव-युवती-सी दमक उठी। नूतन छन्द विधान की दृष्टि से भी हम भारतेन्दु में युग-प्रवर्त्तक का संकेत पाते हैं जो उर्दू और हिन्दी को एक ही मंच पर लाने वाली है।

भारतेन्दु की साहित्य-साधना का उद्देश्य उनकी प्रत्येक रचना में स्पष्ट देखा जा सकता है। देशोद्धार या जन-जीवन का अभ्युत्थान ही यथार्थ में उनका अभीष्ट विषय था जिसे साहित्य के माध्यम से आपने व्यक्त करने की चेष्टा की है। धार्मिक भावनाओं में वैष्णव होने पर भी भारतेन्दु ने जाति या वर्ण के आधार पर ऊंच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं किया। वैष्णव धर्म के व्यापक स्वरूप को जिस रूप में भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया वह इस बात का प्रमाण है कि उनके समक्ष प्रेम, ममता, सहानुभूति तथा औदार्य की भावना ही प्रधान थी। वे वैष्णवजन के लिए सत्य, अहिंसा और प्रेम की उपासना में ही विश्वास करते थे। उन्होंने अपने एक लेख में वैष्णवता का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और इसी समन्वय पर बल देकर सच्चे वैष्णव को संकीर्णता से ऊपर विश्वप्रेम का विश्वासी ठहराया है।

भारतेन्दु अपनी देशभक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं किन्तु उनकी रचनाओं में अंग्रेजों की प्रशंसा तथा अंग्रेजी शासन की स्तुति देखकर उनकी राजभक्ति की बात पाठक को कुछ विस्मय में डाल देती है। देशभक्त के लिए विदेशी शासक की प्रशंसा के लिए अवकाश ही कहाँ होता है! कुछ विद्वानों ने इस राजभक्ति का समाधान करते हुए लिखा है कि राजनीतिक भय के कारण भारतेन्दु ने विदेशी शासन की प्रशंसा कर दी है, उस प्रशंसा में उनकी आत्मा का योग नहीं है। दूसरों का कहना है कि भारतेन्दु ने उन 'मिथ्या वायदों' के कारण अंग्रेजी शासन की प्रशंसा की है जो उस समय शासक-वर्ग की ओर

से जनता को सुखी-समृद्ध बनाने के लिए किये जाते थे। यथार्थ में यह बात नहीं है। भारतेन्दु निष्पक्ष वक्ता थे। उन्होंने अंग्रेज जाति के अनेक गुणों की प्रशंसा की है, उनकी मान्यता थी कि अंग्रेज जाति गुणी और शक्तिशाली है। इसी कारण वे उनकी प्रशंसा कर गये हैं। राजभक्ति के वर्णन का कारण कुछ 'पालिसी' भी है। विक्टोरिया आदि की प्रशंसा तो सामान्यरूप से की गई है। किन्तु अंग्रेजी शासन की सराहना उस समय के प्रभाव से की है। जहाँ देशभक्ति और राजभक्ति का द्वन्द्व दृष्टिगत हो वहाँ भारतेन्दु की रचना-चातुरी को भूलना नहीं चाहिए। विपरीत परिस्थितियों में देशोद्धार का जो मार्ग भारतेन्दु बाबू निकाल सके वह अद्भुत है। युग-प्रवर्तक की दिव्य दृष्टि के सर्वथा अनुरूप यही मार्ग सम्भव हो सकता है। विद्रोह और चुनौती को बचाकर देशप्रेम का स्वर मुखरित करने का यही उपाय उस समय सम्भव था।

सक्षेप में, भारतेन्दु युग-प्रवर्तक और युगान्तरकारी कलाकार हैं। उनके विषय नए हैं, उनकी भाषा नई है, उनकी शैली और परिधान में अभिनव दीप्ति और कान्ति है। सचमुच ही वे अपने युग के नेता है, युग के निर्माता हैं। वे प्रतिभाशाली कवि हैं; सफल नाटककार हैं, सतर्क समीक्षक हैं और समर्थ लेखक हैं। हम उन्हें हिन्दी साहित्य की नव-चेतना और जागृति का जाज्वल्यमान प्रतीक कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। उनकी रचनाओं में स्वदेश, स्वजाति, स्वभाषा और स्वधर्म का सामूहिक स्वर स्पष्ट रूप से प्रतिध्वनित होता हुआ सुनाई देता है।

जनवरी, १९५१।

: २ :

आचार्य शुक्ल की बहुमुखी प्रतिभा

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रधानतया आलोचक के रूप में विख्यात हैं। विवेचन और विश्लेषण की प्रमुखता के कारण उनके समीक्षक रूप ने सामान्य पाठक को इतना प्रभावित किया हुआ है कि साहित्य-साधना के क्षेत्र में उनकी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा प्रसूत अन्य अंगों की ओर सहसा उसका ध्यान नहीं जाता। शुक्ल-साहित्य का अध्ययन करते समय उनकी विचार-प्रधान व्याख्यात्मक या गवेषणात्मक शैली का प्राचुर्य हमारा ध्यान बरबस अन्य सब रूपों से हटाकर उनके अन्यतम आलोचक रूप पर केन्द्रित कर देता है। किन्तु स्मरण रहे कि शुक्लजी केवल आलोचक या समीक्षक ही नहीं वरन् उच्चकोटि के शैली-निर्माता, निबंधकार, विज्ञ इतिहास लेखक, भावुक कवि, अनुवादक, सफल अध्यापक और कुशल सम्पादक भी थे। उन्होंने साहित्य के जिस अङ्ग को भी अपनी लेखनी से स्पर्श किया, उसे अपनी विलक्षण प्रतिभा से कई गुना चमका दिया। कहना न होगा कि इतिहास, आलोचना, निबंध और अनुवाद के क्षेत्र में शुक्लजी अपने पूर्ववर्ती सभी साहित्यकारों से आगे थे। निस्सन्देह उन्होंने इन क्षेत्रों में युगांतरकारी परिवर्तन किया और अपनी उपज्ञात प्रतिभा के नूतन उन्मेष से साहित्य के इन विचार-प्रधान अङ्गों का नवीन शैली से

निर्माण भी किया। नीचे की पंक्तियों में हम उनकी प्रतिभा के विविध एवं बहुमुखी रूपों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं।

शुक्लजी की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ—

१. इतिहास

(क) हिन्दी-साहित्य का इतिहास

२. व्याख्यात्मक समालोचना

(क) जायसी ('जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका)
(ख) तुलसीदास ('तुलसी-ग्रन्थावली' की भूमिका)
(ग) सूरदास ('भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका तथा सूरदास की भक्ति-पद्धति)।

३. सैद्धान्तिक समालोचना

(क) काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद (चिंतामणि भाग २)
(ख) रस-मीमांसा (मृत्यु के बाद प्रकाशित)

४. निबन्ध

(क) चिन्तामणि भाग १-२
(ख) 'साहित्य', 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' तथा अन्य फुटकर निबन्ध।

५. अनुवाद

(क) शशाङ्क (बंगला-उपन्यास)
(ख) विश्व-प्रपंच (अंगरेजी)
(ग) आदर्श-जीवन (अंगरेजी)
(घ) राज्य-प्रबंध-शिक्षा (अंगरेजी)
(ङ) मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन (अंगरेजी)

(च) कल्पना का आनन्द (अंगरेजी)

(छ) अंगरेजी भाषा के कतिपय स्फुट लेखों का अनुवाद।

६. काव्य

(क) बुद्ध-चरित (लाइट ऑफ एशिया के आधार पर ब्रजभाषा-काव्य)

(ख) मनोहर छटा तथा प्रकृति सम्बन्धी कविताएं।

७. सम्पादन

(क) हिन्दी-शब्द-सागर

(ख) नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका

(ग) तुलसी, और जायसी-ग्रन्थावली

(घ) भ्रमरगीतसार (सूरदास)

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

शुक्लजी के यश को चिरस्थायी बनाने में उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अध्ययन-अध्यापन और प्रचार की दृष्टि से तो उनके इतिहास का स्थान सर्वोपरि ठहरेगा। शुक्लजी के इतिहास के प्रकाशित होने से पहले हिन्दी-कवियों का एक वृत्त-सग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् १८८३ में प्रस्तुत किया था। उसके बाद सन् १८८९ में डॉ० ग्रियर्सन ने 'मॉडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' नाम से एक कवि-वृत्त प्रकाशित किया। इस सग्रह में कुछ विवरण बढ़ा दिये गए थे और लेखक का ध्यान इस बात की ओर गया था कि कवियों के जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने में अनुसंधान से काम लिया जाय, किन्तु यह सग्रह भी अनेक भ्रान्तियों एवं त्रुटियों से पूर्ण था। इसके पीछे नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी की रिपोर्टों के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने एक विशाल-काय ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु-विनोद' नाम से चार भागों में प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में भी नाम परिगणन के सिवा विशेष महत्त्व की सामग्री विद्वान् लेखक एकत्र न कर सके थे। हाँ, यथास्थान कविताओं के कुछ उदाहरण अवश्य थे। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में तीन विशेषताएं रखीं और उनके फलस्वरूप शुक्लजी का इतिहास बे-जोड़ बन पड़ा।

शुक्लजी के इतिहास की पहली और विख्यात विशेषता है 'काल-विभाजन'। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का जो काल-विभाजन शुक्लजी ने किया वह आज तक ज्यों-का-त्यों मान्य है। काल-विभाजन के साथ वीरगाथा-काल, रीति-काल और आधुनिक-काल या गद्य-काल नाम देकर भी शुक्लजी ने अपने इतिहास की नवीनता सिद्ध की। दूसरी विशेषता है प्रत्येक काल की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय, परिस्थिति का प्रभाव, आलोचक की दृष्टि से प्रवृत्तियों की व्याख्या और समीक्षा। किसी काल में किसी विशिष्ट प्रवृत्ति ने साहित्य में प्रश्रय पाकर पूर्ववर्ती भाव-धारा या साहित्यिक प्रवृत्ति में क्योंकर परिवर्तन प्रस्तुत किया, इसका राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर जैसा मार्मिक और बुद्धि-ग्राह्य विश्लेषण शुक्लजी ने अपने इतिहास में किया वैसा उनके पूर्ववर्ती ही नहीं, परवर्ती इतिहास-लेखक भी नहीं कर सके हैं। परवर्ती इतिहास-लेखकों में अधिकांश ने तो शुक्लजी के काल-विभाजन, नामकरण तथा प्रवृत्ति-विश्लेषण को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। जिन लेखकों ने अपने इतिहास में नवीनता लाने का प्रयास किया है वह या तो शुक्लजी के मन्तव्यों का भाष्य करके अथवा नवीन शोध के आधार पर प्राप्त नूतन सामग्री को जोड़कर। यथार्थ में शुक्लजी प्रवृत्ति-परिचय और विश्लेषण में आज भी अपना सानी नहीं रखते। उनके इतिहास की तीसरी विशेषता है कवि-परिचय में मनोवैज्ञानिक शैली से कवि की विशेषताओं का उद्‌घाटन तथा यथास्थान सम-सामयिक कवियों का संकेत करके उदाहरणों द्वारा कवि का अपने काल में स्थान-निर्देश। तुलसी, जायसी और सूर के अतिरिक्त केशव, घनानन्द, भिखारीदास और रीतिकाल के कुछ अन्य उपेक्षित कवियों पर शुक्ल जी ने स्वतन्त्र रूप से बहुत सुन्दर टीका-टिप्पणी की है।

आधुनिक-काल का इतिहास प्रस्तुत करने में शुक्लजी ने विशेष सावधानी बरती है। भारतेन्दु-युग के कवि और लेखकों का इतिवृत्त यद्यपि परिचयात्मक ही है उसमें व्याख्या या विवेचन की प्रधानता नहीं, किन्तु उनसे पहले किसी इतिहास-लेखक ने इस काल का इतना विस्तृत विवरण प्रस्तुत नहीं किया था। इस काल पर शुक्लजी ने जो सामग्री जुटाई वह परवर्ती इतिहास-लेखकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध हुई। द्विवेदी-युग का इतिहास शुक्लजी ने सांगोपांग एवं सटीक लिखा। इस युग के बाद छायावाद-युग का इतिहास लिखने में शुक्लजी ने काव्य-पद्धतियों की मीमांसा करते हुए अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण को मुख्यता प्रदान की। छायावादी काव्य को उन्होंने अभिव्यंजना की विशिष्ट

शैली-मात्र स्वीकार करके इस युग के कवियों को नूतन भाव, विचार और प्रेरणा का स्रष्टा नहीं माना। 'नई धारा' शीर्षक अध्याय में इस युग के जिन कवियों का उल्लेख हुआ है उनमें पंत और प्रसाद के अतिरिक्त किसी को भी शुक्लजी वह स्थान न दे सके जो उन्हें आज प्राप्त है। सुश्री महादेवी वर्मा के काव्य में रहस्यात्मक भावना का उल्लेख शुक्लजी ने अवश्य किया, किन्तु उस युग की काव्यधारा को रहस्यवाद के अनुरूप स्वीकार नहीं किया। इस प्रसंग में शुक्लजी ने छायावादी कवियों की आलोचना में स्थान-स्थान पर व्यंग्य का प्रयोग किया है और बड़ी मीठी चुटकी ली है।

संक्षेप में, शुक्लजी का इतिहास हिन्दी-साहित्य का एकमात्र दिशा-बोध कराने वाला प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। उसकी प्रामाणिकता में आज किसी को सदेह नहीं है और इसी कारण अध्ययन-अध्यापन में वह सबका पथ-प्रदर्शक बना हुआ है। कतिपय परवर्ती लेखकों ने शुक्लजी के प्रवृत्ति-मूलक वर्गीकरण पर शंका उठाई है किन्तु उनके इतिहास ने ऐसा प्रचार और यश अर्जित कर लिया है कि सहसा उसका खंडन स्वीकार्य नहीं होता।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

शुक्लजी की व्यावहारिक या व्याख्यात्मक आलोचना-शैली का परिपक्व एवं परिष्कृत रूप जायसी, सूर और तुलसी-जैसे महाकवियों की कृतियों के सम्पादन के साथ लिखी गई भूमिकाओं में हमें देखने को मिलता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में शुक्लजी से पहले इतनी सारगर्भित और गवेषणात्मक समीक्षा लिखने की परिपाटी नहीं थी। आलोच्य ग्रन्थ 'जायसी की भूमिका' का अनुशीलन करने से विदित होता है कि लेखक ने कवि का इतिवृत्त लिखकर या कृति के सामान्य गुण-दोष प्रदर्शित करके अपने आलोचक के गुरुतर कर्तव्य की इतिश्री नहीं की है वरन् कवि की अन्त:प्रवृत्तियों का उद्घाटन करते हुए काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कृति को कसकर उसका निर्णयात्मक शैली से मूल्यांकन किया है।

जायसी : 'जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका'

'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका शुक्लजी की तीनों भूमिकाओं में विस्तार की दृष्टि से सबसे बड़ी है। सवा दो सौ पृष्ठ की इस भूमिका को यदि मलिक मुहम्मद जायसी का एक सर्वाङ्गीण विवेचनात्मक अध्ययन कहा जाय तो

कोई ग्रत्युक्ति न होगी। यह भूमिका तेईस ग्रध्यायों में विभक्त है। जिसमें प्रथम तथा तृतीय ग्रध्याय का सम्बन्ध कवि के जीवन-वृत्त से है। शेप ग्रध्याय 'पदमावत' की ग्रालोचना तथा उससे सम्बद्ध विपयो पर प्रकाश डालने के लिए लिखे गए हैं। प्रेम-गाथा परम्परा की प्रेम-पद्धति का विशद वर्णन करते हुए लेखक ने ईश्वरोन्मुख प्रेम-तत्त्व पर स्वतत्र रूप से ग्रपने विचार प्रदर्शित किये हैं। जायसी के काव्य में वियोग तथा सयोग शृंगार की विभिन्न दशाग्रो के चित्र उपस्थित कर लेखक ने उन मार्मिक स्थलो की ग्रोर पाठक का ध्यान ग्राकृष्ट किया जो जायसी को प्रेमाख्यानक कवियो की परम्परा में सर्वश्रेष्ठ ठहराते हैं। कवि के वियोग ग्रौर सयोग-शृंगार-वर्णन की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी ने नागमती के विरह-प्रसग को हिन्दी-साहित्य का श्रेष्ठतम विरह-वर्णन बताया है। वे लिखते हैं: "नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में एक ग्रद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनो के पेड़ो के नीचे रात-रात-भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने ग्राता है उसे वह ग्रपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें उसे सब ग्रपने सगे लगते हैं ग्रौर यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दु ख सुनाने से भी जी हल्का होगा।" (जायसी ग्रन्थावली की भूमिका)

काव्यालोचन के सम्बन्ध में शुक्ल जी की ग्रपनी स्वतंत्र मान्यताएं हैं जिनके ग्राधार पर वे ग्रालोचना प्रस्तुत करते हैं। इन सिद्धान्तो के मूल में वे ग्रपने जीवन-दर्शन को रखते हैं जिसमें श्रद्धावाद, लोकादर्शवाद या मर्यादावाद, तथा नवीन ग्रौर प्राचीन का समन्वय मुख्य है। काव्य की सफलता में उसकी प्रेपणीयता को प्रथम स्थान देते हुए कवि के भावों ग्रौर ग्रनुभूतियों की सम्यक ग्रभिव्यक्ति को वे ग्रावश्यक समझते हैं। ग्रतएव उनके शब्दों में ही—'काव्य का लक्ष्य है जगत् ग्रौर जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य ग्रपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से ग्रपने हृदय को निकाल-कर उसे विश्व-व्यापिनी ग्रौर त्रिकाल-वर्तिनी ग्रनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे ऊँचे उद्देश्य ग्रा जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन में मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय, भगवान् के लोक-रक्षक ग्रौर लोक-रंजक हृदय से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है।' (इन्दौर का भाषण)। काव्य के विषय का निरीक्षण करते हुए शुक्ल जी ने जड़ ग्रौर जगम जगत् के ग्रसुन्दर ग्रौर सुन्दर कहे जाने वाले सभी उपादानों को गिनाया है। किन्तु काव्य का मुख्य विषय मानव-जीवन ही उन्होंने स्वीकार किया है

जो अपने भीतर शक्ति, शील और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करके जगत् को अनुरंजित करने में सफल होना है। काव्य के इन समस्त विषयों को उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है, एक विभाव पक्ष और दूसरा भाव पक्ष। प्रत्येक प्रथम कोटि के सफल काव्य में दोनों पक्षों की परिपूर्णता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। विभाव पक्ष की स्थापना के लिए काव्योपयोगी आलम्बन तथा उद्दीपन का रखना भी उन्हें अभिप्रेत है। उद्दीपन के लिए प्रकृति-चित्रण की ओर शुक्ल जी का अनेक बार ध्यान गया और उन्होंने इसे आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों स्थितियों में काव्योपयोगी कहा है। कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के अतिरिक्त रस, भाव, अलकार, भाषा, तथा शैली आदि विविध अंगों का भी अपनी आलोचना में वे उल्लेख करते हैं। सक्षेप में, वे आलोचना प्रस्तुत करते समय काव्य-शास्त्र की आवश्यकता कसौटी के रूप में स्वीकार करते हैं। जायसी की आलोचना में तो विशेषतः उनका यह शास्त्रीय रूप बहुत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

जायसी की आलोचना में उन्होंने रचना-विधान का विस्तार से वर्णन किया है और पदमावत को प्रबन्ध-काव्य ठहराते हुए उसकी प्रबन्ध-कल्पना और सम्बन्ध-निर्वाह पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रबन्ध-कल्पना के विषय में उन्होंने लिखा है : 'घटनाओं की सम्बन्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम से ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसमें नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए'' जिनके प्रभाव से सारी कथा मे रसात्मकता आ जाती है। वे मनुष्य-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिए कि काव्य मे कथा-वस्तु की गति इन्ही स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है। (जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका, पृष्ठ ६५) शुक्ल जी प्रबन्धकाव्य को मुक्तक की अपेक्षा उत्तम कोटि का काव्य मानते हैं अत. पदमावत की विवेचना में उन्होंने लोक-पक्ष की मर्यादाओं का भी उल्लेख किया है।

तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से भी लेखक ने तुलसी के साथ जायसी की कतिपय समान और असमान बातों का वर्णन किया है। अंगरेजों के शैली, ब्राउनिंग, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों के भावों की भी जायसी से तुलना की है। जायसी की आलोचना में आलोचक ने एक क्रमिक सम्बन्ध का निर्वाह किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ एक सूत्र मे आबद्ध शृंखला-सा लक्षित होता है। तुलसीदास की आलोचना की भाँति उसके अध्याय पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रूप से लिखे निबन्ध

से प्रतीत नहीं होते। हास्य-व्यंग्य का पर्याप्त पुट इस समीक्षा में है अतः गम्भीर आलोचना होने पर भी उसमें सरसता का अभाव नहीं है।

संक्षेप में, शुक्ल जी ने जायसी की आलोचना, व्याख्या या विवेचना के आधार पर प्रस्तुत की है जिसमें जायसी के जीवन-चरित्र के साथ जायसी के काव्य को भली भाँति हृदयगम करने की शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक सामग्री जुटाई गई है। इस आलोचना में तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का आलोचक ने जिस शैली से अवगाहन किया है वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी परिपूर्ण है। पाठक और कवि के बीच आलोचक ने अपनी आलोचना द्वारा इतना सुन्दर माध्यम प्रस्तुत कर दिया है जो कवि के कृतित्व को समग्र भाव से समझने में पाठक की पूरी सहायता करता है। शुक्ल जी ने जायसी की त्रुटियों का भी इस आलोचना में यथास्थान निर्देश किया है। लोक-पक्ष और शक्ति, शील तथा सौंदर्य की कसौटी पर जायसी खरे नहीं उतरे। किन्तु पदमावत की महत्ता उसके प्रबन्ध-सौष्ठव, उसकी प्रेम-पद्धति की स्थापना, रहस्यवाद का समीचीन शैली से वर्णन, वियोग और संयोग दशाओं का सांगोपांग एवं सटीक चित्रण तथा हृदय की मार्मिक अनुभूतियों के अंकन में है, इसीलिए जायसी सफल प्रबन्ध-काव्यकार महाकवि हैं।

सूरदास : 'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका

भ्रमर-गीत-सम्बन्धी सूर के लगभग चार सौ पदों का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है। पुस्तक के प्रारम्भ में लगभग अस्सी पृष्ठ की एक भूमिका है जो जायसी और तुलसी पर लिखी गई भूमिकाओं से आकार में ही नहीं विषय-वर्णन में भी कुछ भिन्न है। जायसी और तुलसी पर लिखी आलोचनाओं में लेखक ने इतिवृत्त तथा परिस्थितियों की पृष्ठभूमि देकर काव्य के मार्मिक स्थलों की मीमांसा की है। इस भूमिका में जीवन-वृत्त तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख नहीं हुआ है। इस भूमिका को हम यथार्थ रूप में भूमिका कह सकते हैं। शुक्ल जी ने अपनी आलोचना के लिए जो मानदंड निर्धारित किया हुआ है उसका प्रयोग तो इसमें भी परिलक्षित होता है, किन्तु उसकी व्यापकता का इसमें अभाव है। सूर की आलोचना के लिए लेखक ने भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष अर्थात् हृदय-पक्ष तथा कला-पक्ष को कसौटी बनाया है और उसके द्वारा उसने सूर-काव्य के सभी मार्मिक एवं हृदयग्राही स्थलों की छान-बीन की है। कला-पक्ष की स्थापना करते हुए कवि-कर्म की समीक्षा में केवल सूर की विशेषताओं का ही उल्लेख नहीं किया

अपितु तुलनात्मक शैली से यथावसर सूर की सबलता और दुर्बलताओं का भी बड़ी समीचीन शैली से वर्णन किया है। "वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्‌घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इस क्षेत्र का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों रसों के प्रवर्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।" ('भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका, पृष्ठ ३)

'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि शुक्ल जी ने सूर के काव्य-सौष्ठव की सराहना करते हुए भी 'सूर-सागर' का यथोचित मूल्यांकन नहीं किया। शुक्ल जी लोक-पक्ष तथा शक्ति, शील और सौन्दर्य के प्रस्फुटन आदि को काव्य के अनिवार्य गुण मानते हैं और इन्हीं पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर वे आलोचना में प्रवृत्त होते हैं फलतः वे स्वयं स्थान-स्थान पर निर्णयात्मक-पद्धति की आलोचना के शिकार हो जाते हैं। निर्णयात्मक-पद्धति के लिए जो मान-दण्ड शुक्ल जी ने स्वीकार कर रखे हैं वे काव्य-क्षेत्र के सर्वमान्य सिद्धान्त हैं इसमें अनेक विद्वानों को सन्देह है। अतः उनकी यह धारणा है कि शुक्ल जी सूर-काव्य की आलोचना प्रस्तुत करने में पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं। यह ठीक है कि सूर-काव्य का नायक श्रीकृष्ण, तुलसी के राम के समान लोक-रंजन या मर्यादा-पोषक नहीं—उसका व्यक्तित्व क्रिया-कलाप में लोक बाह्य-सा दृष्टिगत होता है। सूर के काव्य में जीवन के विविध प्रसंगों का भी वैसा व्यापक और विशद चित्रण नहीं जैसा तुलसी के 'रामचरित मानस' में है किन्तु इस त्रुटि के कारण सूर का सम्पूर्ण काव्य निम्न कोटि का नहीं ठहराया जा सकता। सूर ने अपने काव्य में सौंदर्य पक्ष को प्रधानता दी है जिसके फलस्वरूप उनके पदों में गीति-तत्वों की जैसी स्थापना हुई वैसी आज तक किसी कवि के काव्य में सम्भव न हो सकी।

सूर-काव्य की भूमिका में कदाचित् लेखक को स्थल-संकोच भी रहा है। सूरदास के सम्पूर्ण कवि-रूप को उस भूमिका में विवृत करने का अवकाश न था, अतः बाल-कृष्ण, मुरली-माधुरी तथा कथा-प्रसंग-सम्बन्धी पदों पर विस्तार से विचार नहीं हो सका। इस कमी को अनुभव करके श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'सूरदास' नामक ग्रन्थ का सम्पादन कर दिया है। इसमें 'भक्ति का

विकास', 'श्री वल्लभाचार्य', 'सूर का जीवन-वृत्त' तथा 'काव्य में लोक-मंगल' नामक चार अध्याय जोड़ दिए गए हैं। इस संकलित रूप में 'सूरदास' ग्रन्थ का प्रकाशन उस कमी को दूर कर देता है, जो भूमिका में खटकती थी। 'भक्ति का विकास' शीर्षक अध्याय गम्भीर अध्ययन और शोध-प्रवृत्ति का परिचायक होने के साथ-साथ भक्ति के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का निवारण करता है। भक्ति और शृंगार का तारतम्य प्रदर्शित करते हुए भक्ति और रस का सम्बन्ध भी इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। श्री वल्लभाचार्य के विषय में शुक्ल जी ने खोज की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है, जिसका परवर्ती लेखकों ने अच्छा उपयोग किया है।

विषय-प्रतिपादन और काव्यालोचन में शुक्ल जी की भाषा सदैव सजीव, सरस, आकर्षक और अर्थ-गर्भित रहती है। सूरदास की आलोचना में भी उनकी इस सुन्दर अभिव्यंजना-शैली का निदर्शन है। सूर की वाणी का उल्लेख करते हुए पहले ही पृष्ठ पर शुक्ल जी लिखते हैं कि—'जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर व्रज के करील कुञ्जों के बीच फैलकर मुरझाए मनों को सींचने लगी।" ('भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका)।

संक्षेप में, आचार्य शुक्ल की रचनाओं में सूरदास का स्थान इसलिए विशेष महत्त्व का है कि उनके मान-दण्ड के अनुसार सूर-काव्य लोक-पक्ष को लेकर नहीं चलता। किन्तु शुक्ल जी ने सूर-काव्य के उन मार्मिक स्थलों तथा कवि की नूतन उद्भावनाओं की छानबीन की है जो साधारण पाठक की दृष्टि से ओझल रहते हैं। वे स्वयं आलोचक की दृष्टि से सूर पर निष्पक्ष दृष्टि से प्रकाश डालते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास आचार्य शुक्ल के सर्वाधिक प्रिय कवि हैं। जिन काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर शुक्ल जी आलोचना लिखते रहे, उनकी प्रेरणा तुलसी के काव्यानुशीलन से ही उन्हें उपलब्ध हुई। तुलसी के ग्रन्थों का सम्पादन करते समय इस ग्रन्थ को उन्होंने भूमिका के रूप में लिखा था, किन्तु बाद में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में यह प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में तुलसी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त, तुलसी की भावुकता, शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण, तुलसी-काव्य में लोक-सग्रह-भाव आदि विभिन्न अध्याय

गो० तुलसीदास : 'तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका'

हैं, जिनमें जायसी की भूमिका की भाँति एकसूत्रता दृष्टिगत नहीं होती। कुछ अध्याय तो स्वतंत्र निबंध-से प्रतीत होते हैं, सम्भवतः कुछ निबन्ध तो लिखे भी स्वतंत्र रूप से ही गए थे और बाद में ये पुस्तक के कलेवर में यथास्थान संकलित कर दिए गए।

'गोस्वामी तुलसीदास' शुक्ल जी की विवेचनात्मक आलोचना का वह रूप प्रस्तुत करता है जिसमें लेखक कवि की विशेषताओं के प्रति जागरूक होकर व्यावहारिक रूप से प्रशंसा-परक हो गया है। तुलसी के समस्त वर्णनों में उसे विशेषता और चमत्कार दीखता है और उसके दोषों को भी आलोचक ने अपनी तर्कपूर्ण शैली से गुण सिद्ध कर दिया है। आलोचना के लिए जो कसौटी तैयार की गई है उसका आधार ही तुलसी की काव्यशैली है। यह ठीक है कि शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति परम्परा-मुक्त या रूढ़िगत नहीं थी किन्तु जिन मानों को उन्होंने पूर्ण माना उन पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा सकता है। तुलसी की काव्य-मीमांसा में गुण-ही-गुण नजर आने का मात्र कारण यही है कि उनके मान तुलसी के अनुरूप हैं और तुलसी के 'राम-चरित-मानस' या 'विनय पत्रिका' के अनुशीलन के बाद उनका निर्धारण हुआ है।

तुलसी की आलोचना में शुक्ल जी ने मनोविकारों तथा काव्य-सिद्धान्तों का वर्णन किया है। आलोचना की कसौटी और आलोच्य वस्तु दोनों का सम्मिलित रूप शुक्ल जी की आलोचना में इसी स्थल पर सबसे अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप में देखने में आता है। आलोचना के सिद्धान्त प्रस्तुत करने में उनकी शैली में जैसा अतल गाम्भीर्य इस रचना में लक्षित होता है वैसा अन्यत्र नहीं। पाठकों के लिए नूतन विचार, मौलिक अभिव्यंजना शैली, गभीर चिन्तन तथा सुलझी हुई तर्क शैली का जैसा प्रवाह इस ग्रन्थ में है वैसा उनकी अन्य रचनाओं में अपेक्षाकृत कम है। तुलसीदास शुक्ल जी के आदर्श कवि हैं। अत उनकी वृत्तियाँ भी इनके अध्ययन में अधिक स्निग्ध भाव से रमी प्रतीत होती हैं। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए शुक्ल जी के काव्य-सिद्धान्तों का यदि सकलन किया जाय तो निश्चय ही काव्य-शास्त्र की सूत्र-बद्ध एक सुन्दर पुस्तिका तैयार हो सकती है।

'तुलसी की भावुकता' शीर्षक अध्याय में शुक्ल जी ने राम-कथा के अनेक मार्मिक प्रसंगों को एकत्र किया है। मानव-जीवन की विविध परिस्थितियों का सन्निवेश, भावों की गम्भीरता, संचारियों की विपुल मात्रा में स्थापना तथा मानव-हृदय को स्पन्दित करने वाले व्यापारों का चयन करके आलोचक

ने कवि की भावुकता को सहृदय-संवेद्य बना दिया है। चरित्र-चित्रण में भारतीय आदर्शों की स्थापना की ओर आलोचक की दृष्टि रही है और निःसन्देह उन सभी स्थलों को प्रस्फुटित करके उसने रख दिया है जो भारतीय जीवन को गौरवान्वित करने में समर्थ हैं। तुलसी की चरित्र-चित्रण-पद्धति को अपूर्व और अद्भुत सिद्ध करने में शुक्ल जी को पूर्ण सफलता मिली है इसमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं है।

शुक्ल जी की सैद्धान्तिक समालोचना के सर्वश्रेष्ठ रूप का दर्शन हमें उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित ग्रन्थ 'रस-मीमांसा' में होता है। इससे पहले 'काव्य में रहस्यवाद,' 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'काव्य में प्रकृति' शीर्षक निबन्धों में भी सैद्धान्तिक पक्ष की स्थापना है। शुक्ल जी का 'इन्दौर-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का भाषण भी उनकी शास्त्रीय या सैद्धान्तिक विवेचना-पद्धति का आभास देता है। 'रस-मीमांसा' शुक्ल जी के काव्य-सिद्धान्तों का संकलन है, जिसका सम्पादन श्री पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अत्यधिक परिश्रम और योग्यता के साथ किया है। शुक्ल जी रसवादी आलोचक थे—रस की उपेक्षा करके उन्होंने कोई भी आलोचना नहीं लिखी। अतः 'रस-मीमांसा' का प्रकाशन सामान्य पाठक के लिए तथा शुक्ल साहित्य के विद्यार्थी के लिए अति उपयोगी सिद्ध होगा।

रस-मीमांसा : सैद्धान्तिक आलोचना

'रस-मीमांसा' ग्रन्थ मुख्य रूप से आठ अध्यायों में विभक्त है। काव्य, काव्य के विभाग, काव्य का लक्षण, विभाव, भाव, रस, शब्द-शक्ति तथा ध्वनि शीर्षकों के अन्तर्गत सूक्ष्म वर्गीकरण करके विद्वान् लेखक ने उन सभी तत्त्वों पर प्रकाश डाला है जो काव्यानुशीलन के लिए अनिवार्य होते हैं। परिशिष्ट रूप में शुक्ल जी की कतिपय अंगरेजी तथा हिन्दी में लिखी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं, जिनसे उनकी पठन-पाठन-शैली और सूक्ष्म चिन्तन-प्रणाली का परिचय मिलता है। इन टिप्पणियों को पढ़कर लगता है कि मनीषी लेखक, विचारक और अध्यापक बनने के लिए शुक्ल जी कितने जागरूक और सतर्क रहकर परिश्रम करते थे। सचमुच ही उनकी ये टिप्पणियाँ हमारे हृदय में विस्मय और हर्ष की सृष्टि करने के साथ-साथ गम्भीर अध्ययन के प्रति उत्साह और रुचि भी पैदा करती हैं।

'रस-मीमांसा' में जिन निबन्धों को संकलित किया गया है उनमें रसविषयक तत्त्वों के समावेश के साथ काव्य-सामान्य की मीमांसा भी है।

रस-निष्पत्ति में जिन तत्त्वों का उपयोग होता है उनका विशद विवेचन इस ग्रन्थ के विभिन्न लेखों में प्रस्तुत किया गया है। शुक्ल जी के आलोचना-सिद्धान्तो का इस ग्रन्थ द्वारा सम्पूर्ण रूप से बोध हो सकता है। आचार्य शुक्ल भारतीय परम्परा के अनुसार रस को ही काव्य में मुख्य तत्त्व मानते थे। किन्तु पंडितराज जगन्नाथ आदि की भांति वे उसे आध्यात्मिक जगत् में नही ले जाते, वे उसके मनोमय कोष से आगे जाने की अपेक्षा नहीं समझते। अत: रस को या रसानुभूति की आनन्दमयी दशा को अलौकिक व्यापार कहना भी उन्हें प्राचीनों की भाँति मान्य नही।

'रस-मीमांसा' का परिचय देते हुए सम्पादक महोदय ने लिखा है—('रस-मीमांसा' ग्रन्थ की) "तत्त्व वस्तु सब आचार्य की है ज्यों-की-त्यो, आकार खडा कर दिया है अन्तेवासी ने। नामकरण की ढिठाई भी उसी ने की है। इस रूप में शुक्ल जी की काव्य-मीमासा-सम्बन्धी विचार-धारा का, जो रसोन्मुखी है, पूरा-पूरा पता चल जाता है और उस मान-दंड की भी उपलब्धि हो जाती है जिसे लेकर वे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में उतरे थे...। शुक्ल जी स्वच्छन्द चिन्तक थे। उन्होने भारतीय परम्परा को मानते हुए भी अन्धानुकरण नही किया है, आधुनिक पश्चिमी शास्त्र-मीमासा को विदेशी कह कर त्यागा भी नही है।" संक्षेप में, इन पंक्तियों से रस-मीमांसा का स्वरूप-बोध हो जाता है।

शुक्लजी ने सैद्धान्तिक समालोचना के रूप में कुछ विशाल-काय निबंध लिखे, जिनमें से तीन चिन्तामणि के द्वितीय भाग में संकलित हैं। ये निबंध शुक्लजी की निबंध-शैली के उतने परिचायक नही जितने उनकी मीमांसा-पद्धति के। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' पहला निबन्ध है जिसमें प्रकृति के विविध रूपों की काव्य में उपादेयता या अनुपादेयता का शास्त्रीय विधि से विवेचन है। इस निबन्ध में विद्वान् लेखक ने प्रकृति-विषयक भारतीय प्राचीन संस्कृत-साहित्य की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की प्रकृति-वर्णन-शैली के उद्घाटन के साथ पदमावत, रामचरित-मानस, सूर-सागर आदि के उदाहरणों से हिन्दी-कवियों की भी सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति का पाठक को परिचय कराया है। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति को किस रूप में ग्रहण किया और उनकी प्रणाली की सीमाओं ने किस प्रकार प्राकृतिक दृश्य-विधान को संकुचित बनाया, इसका भी अच्छा प्रतिपादन इस निबन्ध में है। शुक्लजी

'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'

काव्य में (विभाव) आलम्बन को प्रधान समझते हैं। अतः प्राकृतिक दृश्य-विधान में प्रकृति आलम्बन रूप में गृहीत होकर काव्य का अंग बने तो निश्चय ही वह काव्योत्कर्ष की साधिका होगी और पाठक की चित्त-वृत्तियों को अनुरंजित करने के साथ उसमें लीन करने की शक्ति भी कहीं अधिक होगी।

प्रकृति मानव की सहचरी है। मानव-जीवन के विकास में आदि काल से इसने अमित योग दिया है। काव्य-रचना में तो प्राकृतिक दृश्यों की महानता विश्व के सभी कवियों ने स्वीकार की है अतः प्रकृति का शास्त्रीय रूप से महत्व इस निबन्ध द्वारा अवगत होता है। निबंध की स्थापनाएँ सर्वथा नूतन हैं।

काव्य में रहस्यवाद

हिन्दी-साहित्य की प्राचीन एवं नवीन काव्य-धारा में रहस्यवाद नाम की एक भाव-धारा प्रारम्भ से ही प्रवाहित हो रही है। जायसी, कबीर, मीरा के युग से लेकर आज के युग तक प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा की कविता में रहस्यवादिता की खोज जारी है। आचार्य शुक्ल रहस्यवाद के विषय में कुछ स्वतन्त्र विचार रखते थे। उनका विश्वास था कि "मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है—इसके भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का—जिसका कुछ ठीक-ठिकाना नहीं—सूचक बनाना हम सच्चे कवि का—सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।" रहस्यवाद के प्रकरण में 'अज्ञात की लालसा' 'अज्ञात दिशा' या 'अनन्त पथ के गान' शुक्ल जी को सम्भाव्य और सुन्दर प्रतीत नहीं हुए। उन्होंने इसी कारण इस निबन्ध के प्रारम्भ में चार-पाँच पंक्तियाँ परिष्कार की भावना से लिखी हैं जो निबन्ध के उद्देश्य को स्पष्ट करती हैं और लेखक की रहस्यवाद के प्रति धारणा का भी संकेत देती हैं। वे लिखते हैं—"यह निबन्ध इस उद्देश्य से लिखा गया है कि 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्तिवश या जान-बूझकर जो अनेक प्रकार की बे-सिर-पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बन्द हो'''। मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण करना मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।" परिष्कार की भावना से लिखी इन पंक्तियों में शुक्ल जी ने यह तो स्पष्ट कर दिया है कि रहस्यवाद के विषय में तत्कालीन लेखकों और कवियों की जो धारणा थी उससे वे पूर्णतया सहमत नहीं थे।

रहस्यवाद की मीमासा करते हुए शुक्ल जी अपने मूल वक्तव्य (थीसिस) से हटकर इधर-उधर के विवाद-ग्रस्त विषयों में उलझे हैं, फलतः वर्ण्य वस्तु की निबन्धना अत्यधिक विशृंखल और शिथिल हो गई है। इस निबन्ध में शुक्ल जी ने अनेक स्थलो पर विषयान्तर स्वीकार किये हैं और उनमें फँसकर वे कहीं-कहीं मूल बात से इतनी दूर जा पड़े हैं कि पाठक के लिए विषय-सम्बन्ध स्थापित करना दुरूह ही नहीं असम्भव भी हो गया है। विलायती वादों का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने रहस्यवाद की मूल-भूत मान्यताओं को छोड दिया है। भारतीय वाङ्मय में रहस्य-भावना का वर्णन वेदो से लेकर अद्यतन हिन्दी-साहित्य तक प्राप्त होता है, उसके प्रतिपादन के लिए जिन आध्यात्मिक या साहित्यिक तत्त्वो की आवश्यकता है उनकी उपेक्षा करके वर्तमान वादों की तुलना पर इसे हल्का-भारी ठहराना असंगत प्रतीत होता है। शुक्ल जी के निबन्ध-साहित्य में यह लेख सबसे अधिक उलझा हुआ और अकुश-हीन-सा लगता है। सौन्दर्य-बोध, अज्ञात का ज्ञान, भाव, विभाव और कल्पना, प्रतीकवाद आदि विषयो पर इस निबन्ध में व्यक्त किए गए शुक्ल जी के विचार एक ओर मूल विषय से असम्बद्ध हैं और दूसरी ओर निश्चय ही शैली की दुरूहता के कारण असंगत-से लगने लगते हैं। क्रोचे और कांट के क्रमशः अभिव्यंजनावाद और प्रत्ययवाद को इस प्रसग में जिस रूप से घसीटा है वह चिन्त्य है। रहस्यवाद का उल्लेख काव्य-रचना में अनादि काल से किसी-न-किसी रूप में रहा है उसे प्रणाली माना जाय या स्वतन्त्र विषय, यह विचारणीय है। इसके सिवा छायावाद और रहस्यवाद को एक साथ एक ही रूप में देखना भी हमें ठीक नहीं जँचता।

काव्य में अभिव्यजनावाद

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से श्री शुक्ल जी ने जो भाषण दिया था, उसे ही सम्पादक महोदय ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नाम से संकलित कर दिया है। प्रायः सम्मेलनों में प्रचारोद्दिष्ट भाषण या वक्तृताएं देने का रिवाज है, किन्तु शुक्ल जी ने इस भाषण को साहित्य की स्थायी निधि के सभी आवश्यक उपकरणों से सँजोया है। यह भाषण न कहा जाकर एक पुष्ट, गभीर, विचार-प्रधान निबंध ही है, जिसमें साहित्य के सम्बन्ध में देश-विदेश की विभिन्न विचार-सरणियों की विवेचना और व्याख्या करते हुए विद्वान् वक्ता ने अभिव्यंजना के प्रमुख साधन साहित्य के मूल तत्त्वों की प्रतिष्ठा की है।

प्रसिद्ध अंगरेज समालोचक आई० ए० रिचर्ड्‌स तथा क्रोचे के सम्बन्ध में इस भाषण में शुक्ल जी ने अच्छा प्रकाश डाला है। भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्द-शक्तियों की व्याख्या करते हुए अभिधा को मुख्यता देकर शुक्ल जी ने व्यंग्यार्थ की प्रधानता स्वीकार नहीं की। अभिव्यंजना की शैली ही सब-कुछ है ऐसा भी वे स्वीकार नहीं करते—उनके अनुसार अभिव्यंग्य का भी शब्दार्थ-बोध में प्रमुख स्थान है। काव्य में नैतिक तत्व या सदाचार की स्थापना भी शुक्ल जी की दृष्टि से अनिवार्य है, नैतिकता की उपेक्षा या अवहेलना उन्हें स्वीकार्य नहीं। भाषण के अन्त में साहित्यांगों की आपने संक्षेप में चर्चा की है और हिन्दी-भाषा में सभी प्रकार के साहित्यांगों के विकास की इच्छा प्रकट की है। इस भाषण का हिन्दी-साहित्य में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। निश्चय ही यह एक ऐतिहासिक भाषण है।

'चिन्तामणि' आचार्य शुक्ल के संग्रह निबन्धों का संकलन है, जिसमें प्रथम दस निबन्ध भाव या मनोविकार विषयक हैं, शेष सात काव्य शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले विवेचनात्मक या सैद्धान्तिक गंभीर प्रबन्ध हैं। भाव या मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक शैली से हिन्दी-साहित्य में कदाचित् पहली बार ही इतना मार्मिक विश्लेषण हुआ है। शुक्ल जी ने इन निबन्धों को अपनी 'अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश' कहा है। यात्रा के लिए निकली हुई बुद्धि को सहयोग प्राप्त होता रहा है हृदय का, अतः विवेचना में बौद्धिक पक्ष की प्रबलता होने पर भी हार्दिक पक्ष का सर्वथा अभाव नहीं है।

निबन्ध : चिन्तामणि (प्रथम भाग)

पहला निबन्ध 'भाव या मनोविकार' है, जिसमें मानव-जीवन के प्रवर्तक भावों की स्थिति का परिचय प्रस्तुत किया गया है। उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध पर लिखे निबन्धों में लेखक ने वैज्ञानिक रीति से मनोविकारों की उत्पत्ति, प्रभाव और विलय का वर्णन किया है। इन निबन्धों में लेखक निबन्ध लिखने की आगमन और निगमन दोनों शैलियों का पूर्ण रूप से उपयोग करता है, आगमन शैली द्वारा वर्ण्य-विषय को विस्तार देकर अन्त में उसका सारांश देना शुक्लजी की एक शैली है, निगमन शैली से प्रारम्भ में सूत्र रूप से वर्ण्य-विषय का भावार्थ दे देना दूसरी। इन दोनों शैलियों का सुगठित रूप हमें 'चिन्तामणि' में देखने को मिलता है। भाव या मनोविकार-सम्बन्धी लेखों में शुक्ल जी की विषय-प्रतिपादन-शैली तर्क, युक्ति और विवेक का आश्रय पकड़कर चलती है, उसमें असंगति या असम्बद्धता

का दोष नहीं रहता। हाँ, मनोविकारों की विस्तार-परिधि में मतभेद सम्भव है। एक भाव या मनोविकार का विस्तार कितना है और उसके रूप कितने हैं यह 'इदमित्थं' रूप से कहना कठिन होगा।

'चिन्तामणि' के शेष सात निबन्धों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहले विभाग में वे निबन्ध आयेंगे जो 'सैद्धान्तिक' समीक्षा के अन्तर्गत हैं, जिनका उल्लेख सैद्धान्तिक समीक्षा में होना चाहिए। 'कविता क्या है ?', 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' ये चार निबंध शुद्ध रूप से साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना प्रस्तुत करते हैं; भले ही इनमें आचार्य शुक्ल का अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी मिला-जुला हो। शेष तीन निबन्ध व्यावहारिक समीक्षा (एप्लाइड क्रिटिसिज्म) के अन्तर्गत आते हैं। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' एक प्रकार से परिचयात्मक निबन्ध है, जिसमें शुक्ल जी ने अपनी मर्मभेदिनी दृष्टि का अधिक उपयोग नहीं किया। 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' और 'मानस की धर्म-भूमि' निबन्धों में लेखक ने विवेचना को स्थान दिया है और तुलसी के राम-चरित-मानस की उन विशेषताओं की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है जिन पर सामान्यतः पाठक का ध्यान नहीं जाता। इन निबन्धों में उनके मनीषी रूप की पूरी-पूरी छाप दृष्टिगत होती है।

निबन्ध-कला के सम्बन्ध में 'व्यक्तित्व-प्रधान' और 'विषय-प्रधान' दो भेदों की बात प्रायः कही जाती है। वस्तुतः व्याख्यात्मक समालोचना की भित्ति पर जो लेख खड़े किए जाते हैं उनके विषय में ऐसी त्रिभेदक रेखा खींचना सरल नहीं। यह ठीक है कि निबन्ध में व्यक्तित्व की छाप शैली के रूप में अवश्य अंकित होगी। किन्तु शुद्ध रूप से व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध का यह क्षेत्र नहीं। विषय या वर्ण्य-वस्तु की अवहेलना द्वारा समीक्षात्मक निबन्ध में जीवन-संचार नहीं किया जा सकता। शुक्ल जी के 'चिन्तामणि' में संकलित निबन्ध विषय और व्यक्तित्व दोनों का सुगठित एवं सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं।

'चिन्तामणि' के निबन्धों के अतिरिक्त शुक्ल जी ने साहित्य, समाज और संस्कृति पर भी कुछ फुटकर निबन्ध लिखे। प्रारम्भिक दिनों का लिखा उनका 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध पर्याप्त प्रसिद्ध है। 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' शीर्षक निबन्ध तथा 'मित्रता' आदि छोटे-छोटे निबन्ध उनकी सरल और रोचक शैली के अच्छे निदर्शन हैं। शुक्ल जी को हिन्दी में विचारात्मक निबन्ध शैली का जन्मदाता कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

अनुवाद का कार्य मौलिक रचना की अपेक्षा नीरस और कृत्रिम है। विशेषतः उन मौलिक कलाकारों के लिए तो अनुवाद के कार्य में कोई रस शेष ही नहीं रहता, जो स्वयं श्रेष्ठतम साहित्य की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। किसी अंग्रेज लेखक ने अनूदित कृति को 'सौतेला बेटा' (स्टेपसन) की संज्ञा दी है और कहा है कि कोई पुत्रवती माँ अपने पुत्र के रहते दूसरे के पुत्र को गोदी में खिलाने की इच्छा क्यों करेगी। शुक्ल जी मेधावी, मनीषी और उपज्ञात प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे, फिर भी उन्होंने अनुवाद-क्षेत्र में इतना विशाल कार्य किया कि उसे देखकर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता। उनके अनुवादों की संख्या इतनी अधिक और विविध है कि सहसा यह समझ में नहीं आता कि वे इतना कार्य कैसे कर पाए।

अनुवाद : शशांक

'शशांक' श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय का सुप्रसिद्ध बंगला-उपन्यास है। उपन्यास का आधार ऐतिहासिक है, किन्तु लेखक ने अपनी कल्पना और वर्णन-शक्ति के सुन्दर सम्मिश्रण से उपन्यास की कथा में नवजीवन संचार कर दिया है। आचार्य शुक्ल ने कदाचित् उपन्यास की श्रेष्ठता का अनुभव करके ही इसका अनुवाद करना स्वीकार किया था। अनुवाद में शुक्ल जी ने यह ध्यान रखा है कि मूल लेखक का एक भी भाव छूटने न पाय, किन्तु 'मक्षिकास्थाने मक्षिका पातः' वाली शैली को भी उन्होंने नहीं अपनाया है।

शुक्ल जी गम्भीर कोटि के आलोचना-लेखक थे। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में वे कभी जमकर नहीं उतरे। अतः उपन्यास की भाषा के अनुरूप सरलता, प्रवाह और चटपटापन उनकी भाषा में नहीं आ सका। किन्तु इस उपन्यास का कथानक इतना रोचक और सरस है कि भाषा की गम्भीरता उसके रसास्वादन में तनिक भी बाधक नहीं होती। अनुवाद में शुक्ल जी ने एक परिवर्तन किया है, जिसका उल्लेख आवश्यक है। मूल रचना दुःखान्त है किन्तु शुक्ल जी ने उसे सुखान्त बना दिया है। यह अधिकार वे कैसे पा सके, यह विचारणीय हो सकता है।

अनुवाद की दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक है 'विश्व-प्रपंच'। यह जर्मन वैज्ञानिक हीगेल की पुस्तक 'रिडिल आफ द यूनिवर्स' का अनुवाद है। पुस्तक की मूल भाषा है जर्मन; उसके अंगरेज़ी रूपान्तर से शुक्ल जी ने हिन्दी अनुवाद किया है। अनुवाद के प्रारम्भ में एक विशाल भूमिका लिखकर शुक्ल जी ने वैज्ञानिक

युग के भौतिकवाद की बड़ी सुन्दर विवेचना प्रस्तुत की है। यद्यपि अनुवाद से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं, फिर भी शुक्ल जी की विचार-धारा और वैज्ञानिक युग के प्रति उनके दृष्टिकोण का परिचय इस से मिलता है। यथार्थ में मूल पुस्तक दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारों का सम्मिश्रण उपस्थित करके विश्व-प्रहेलिका का समाधान प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखी गई है। शुक्ल जी ने इतनी कठिन पुस्तक का अनुवाद-भार कदाचित् इसलिए उठाया था कि वे चाहते थे कि हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पश्चिम के अद्यतन दर्शन और विज्ञान से परिचय प्राप्त करे और अपने साहित्य-सृजन में इसका उपयोग करे। पुस्तक मूल में ही क्लिष्ट है, अतः अनुवादक को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा, उसका सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु पुस्तक को पढ़ने से विदित होता है कि अनुवादक इसमें पर्याप्त रूप से सफल हुआ है। अनेक स्थलों पर अनुवादक को पारिभाषिक शब्दों का भी अपनी ओर से अनुवाद करना पड़ा है, जो सर्वथा नवीन और मौलिक है।

'आदर्श जीवन' शुक्ल जी के स्वतंत्र अनुवाद का रूप प्रस्तुत करने वाली छात्रोपयोगी पुस्तक है। इस पुस्तक की अनुवाद-शैली इतनी सरल, सरस और आकर्षक है कि बहुत समय तक यह शुक्ल जी की मौलिक रचना ही समझी जाती रही। यह पुस्तक 'स्माइल' की सुप्रसिद्ध अंगरेज़ी पुस्तक 'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग' का रूपान्तर है, जिसमें अनुवादक ने उदाहरणों में भारतीयता का पूरा-पूरा पुट दे दिया है। पाश्चात्य देशों के महापुरुषों के समकक्ष भारतीय महापुरुषों के उदाहरण जुटा देने से पुस्तक का कलेवर बाह्य रूप से ही नहीं, आभ्यन्तर रूप से भी बिल्कुल परिवर्तित हो गया है। शुक्ल जी ने यह अनुवाद छात्रों के पथ-प्रदर्शन के लिए किया था अतः इसकी भाषा इतनी सरल और मुहावरेदार है कि शुक्ल जी की किसी अन्य रचना में उपलब्ध नहीं होती।

शुक्ल जी ने ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विषयों की कुछ अंगरेज़ी पुस्तकों का भी हिन्दी में अनुवाद किया, जिनमें डॉ० श्वानबक की 'मेगस्थनीज इण्डिका', सर माधवराव की 'माइनर हिंट्स' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त एडीसन के 'एसेस ऑन इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' नाम से किया। इन अनुवादों के अतिरिक्त अंगरेज़ी के अनेक उपयोगी निबन्धों का अनुवाद शुक्ल जी द्वारा किया गया। अनुवादों में सर एडविन आर्नल्ड की प्रसिद्ध पुस्तक 'लाइट आफ एशिया' भी है, किन्तु उसका उल्लेख हम उनकी

काव्य-रचनाओं में करेंगे। अनुवाद होने पर भी उसका मूल्य काव्य की दृष्टि से अधिक है, अनुवाद की दृष्टि से उतना नहीं।

शुक्ल जी के जीवन-वृत्त के अनुशीलन से विदित होता है कि शैशव से ही उनकी वृत्तियाँ प्रकृति के मनोहर रूप में अधिक रमती थीं। विंध्याटवी के रमणीय दृश्यों पर वे इतने मुग्ध थे कि अपना प्रियतम स्थान वे उसी प्रदेश को समझते थे। कुमारावस्था में शुक्लजी ने अनेक छोटी-बड़ी कविताएं लिखीं। प्रारम्भ में उनकी काव्य-भाषा, ब्रजभाषा ही थी। कवि की दृष्टि से उनका समय द्विवेदी-युग है, जो इतिहास में इतिवृत्तात्मक कविता का युग कहा जाता है। साथ ही उस युग में अनुवादों का पर्याप्त प्रचार था। उस काल के लेखक विभिन्न भाषाओं के सुन्दर भावों और विषयों को अपनी भाषा में अनुवाद-मार्ग से भर रहे थे। फलतः शुक्ल जी ने भी अनुवाद का सहारा लिया और प्रसिद्ध अंगरेज कवि सर एडविन आर्नल्ड की 'लाइट आफ एशिया' का हिन्दी में अनुवाद कर डाला। मूल पुस्तक एक ही छन्द 'ब्लेंक वर्स' में है, किन्तु शुक्ल जी ने सुविधानुसार अनेक छन्दों का प्रयोग अनुवाद में किया है। काव्य की भाषा सरल और प्रवाहमयी ब्रज है, जो अपनी कोमलता, सरसता और मार्दवता के कारण पाठक को मुग्ध करती है। वस्तुतः यह काव्य-ग्रन्थ अनुवाद का आधार ग्रहण करने पर भी अनुवाद की कोटि में रखने योग्य नहीं है। इसे मौलिक रचना के समान ही समझना चाहिए। स्वतन्त्र रचना में जो आनन्द पाठक को आता है, वह 'बुद्ध-चरित्र' की प्रत्येक पंक्ति ही नहीं वरन् प्रत्येक पद और शब्द में उपलब्ध होता है। रसानुभूति की दृष्टि से इस रचना को प्रथम श्रेणी का काव्य स्वीकार करना कोई अत्युक्ति न होगी।

'बुद्ध-चरित्र' काव्य तथा अन्य कविताएं

शुक्ल जी ने इस अनुवाद में हिन्दी भाषा की प्रकृति को अक्षुण्ण रखने के साथ विषय-विस्तार में पूरी स्वतन्त्रता रखी है। अंग्रेजी की पंक्तियों के मूलभाव को ग्रहण कर उसके अनुरूप वातावरण और परिपार्श्व की सृष्टि करके अनेक स्थलों पर संश्लिष्ट वर्णन किये हैं। उनकी यह प्रवृत्ति सभी सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंगों में लक्षित होती है। उदाहरणार्थ हम नीचे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं जिनमें मूल अंग्रेजी से तीन पंक्तियों का अधिक विस्तार तो है ही, साथ ही दृश्याङ्कन के लिए संश्लिष्ट वर्णन की योजना भी शुक्ल जी ने कवि के रूप में स्वतंत्र शैली से की है।

"निखरो रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
चारु हासिनी खिली चाँदनी पट पर पै अतिप्यारी॥
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुछि झूलि रहीं जो मन्द झकोरन पाई॥
चुवत मधूक परसि भू जौलों 'टप-टप' शब्द सुनावें।
ताके प्रथम पलक भारत में निज झलक दिखावें॥
महकत कतहुँ अशोक मंजरी, कतहुँ कतहुँ पुर माहीं।
रामजन्म उत्सव के अबलौं साज हटे हैं नाहीं॥"

भाषा की दृष्टि से उपर्युक्त पद में व्रजभाषा का ऐसा सरल रूप मिलेगा जो अवधी, भोजपुरी या वर्त्तमान खड़ी बोली जानने वाले को समझने-समझाने में किसी प्रकार की अड़चन पैदा न करेगा।

बुद्ध-चरित्र की भूमिका में शुक्ल जी ने व्रजभाषा के स्वरूप पर जो विचार व्यक्त किये हैं उनका मनन-चिन्तन बहुत ही उपयोगी है। शुक्ल जी का विश्वास था कि प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति (जीनियस) स्वतन्त्र होती है और प्रत्येक भाषा का स्वरूप निर्माण और विकास उसकी प्रकृति के अनुरूप ही होना चाहिए। जो लोग व्याकरण की दुहाई देकर भाषा का निर्माण करना चाहते हैं उन्हें यह भूमिका ध्यानपूर्वक पढ़नी चाहिए।

शुक्ल जी की मौलिक कविताओं में भी रसास्वादन की पूरी सामग्री उपलब्ध होती है। उनकी मौलिक रचनाओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं: एक देश-प्रेम-सम्बन्धी कविताएं और दूसरी प्रकृति-सौंदर्य-विषयक कविताएं। देश-प्रेम की कविताओं का आदर्श तात्कालिक राष्ट्र-प्रेम की भावना है जिसका आधार हिन्दी भाषा, हिन्दू-संस्कृति, अतीत-गौरव, श्रम-महिमा आदि है। देश-प्रेम की भावना भारतेन्दु युग के समान ही चित्रित की गई है। अन्योक्तियों में भी देश की दुर्दशा चित्रित करके उसके अभ्युत्थान की कामना या प्रार्थना ही है। प्राकृतिक-सौन्दर्य का चित्रण करने में शुक्ल जी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र तथा आलम्बन रूप से उसका वर्णन शुक्ल जी को अभीष्ट था। इसी कारण वे बाह्याडम्बर की पोषक सभ्यता से कुछ चिढ़कर प्रकृति की गोद में जाकर बसने की बात कहा करते थे। लहलहाते खेत, कल-कल करती मन्दाकिनी, झर-झर करके झरते हुए निर्झर और मर-मर करते हुए पत्तों का संगीत उन्हें कल-कारखानों की दुनियाँ से कहीं अधिक प्रिय और आह्लादमय लगता था। वे

अपने प्रकृति-चित्रण में इसी प्रकार के प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा अंकित करते थे। उनकी कुछ कविताएं 'मनोहर छटा' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में भी कुछ कविताएं उस समय प्रकाशित हुई थीं। अच्छा हो इनका एक प्रामाणिक संकलन प्रकाशित कर दिया जाय।

आचार्य शुक्ल जी अपनी मौलिक रचनाओं के साथ सम्पादन के कार्य में भी लीन रहे और उन्होंने जिन ग्रन्थों का सम्पादन किया उनमें पाठान्तर या शुद्धि का ही ध्यान नहीं रखा वरन् अपने अध्यवसाय से संदिग्ध स्थलों पर टीका-टिप्पणी भी की। 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सम्पादन में आपका विशेष हाथ था जिसके फलस्वरूप वह विशाल ग्रन्थ प्रामाणिक बन सका। कवियों की ग्रन्थावली के सम्पादन में तो आपने पाडित्य, परिश्रम और लगन के साथ समर्थ सम्पादक का आदर्श रूप रखा है। 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के आप अनेक वर्षों तक सम्पादक रहे, उन दिनों 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का स्तर इतना ऊंचा था कि उसके प्रायः सभी लेख शोध और विवेचन के द्वारा अत्यन्त सारगर्भित होते थे। स्वयं शुक्ल जी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में साहित्य की गति-विधि पर लेख लिखकर पत्रिका को पठनीय एवं संग्रहणीय बनाते थे, उनके बाद पत्रिका का सम्पादन उतने अध्यवसाय के साथ संभव नहीं हुआ।

सम्पादक तथा अध्यापक

ग्रन्थ-सम्पादक के रूप में शुक्ल जी ने जो मान-दंड स्थिर किया है उस पर खरे उतरने वाले सम्पादक हिन्दी में अब तक इने-गिने हैं। अध्ययन और अध्यवसाय दोनों गुणों का समन्वित रूप शुक्ल जी का सम्पादक रूप है।

साहित्यकार के अतिरिक्त शुक्ल जी सफल अध्यापक भी थे। निःसंदेह शुक्ल जी हिन्दी के उन उच्चकोटि के अध्यापकों में मूर्धन्य पर आसीन हैं जिनकी शिष्य-परम्परा आज हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति में लीन है। कदाचित् हिन्दी में शुक्ल जी की शिष्य-मंडली गुणवत्ता और संख्या दोनों ही दृष्टियों से सबसे बड़ी है। शुक्ल जी ने अध्ययन-अध्यापन की जो परम्परा अपने पीछे छोड़ी है उसमें उनकी प्रतिभा का पुट सर्वत्र दृष्टिगत होता है।

मार्च, १९५१।

: ३ :

आचार्य शुक्ल की निबंध-शैली

उपक्रम

भावाभिव्यक्ति की विविध शैलियो में निबंध अपेक्षाकृत एक सुश्रृंखल एव सुगठित शैली है। भावो और विचारों को एक सूत्र में पिरोकर सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत करना निबंध कला का वैशिष्ट्य माना जाता है। निबंध शब्द की व्युत्पत्ति में इसी अर्थ की ध्वनि है और उसका निर्वचन भी इसी दिशा की ओर संकेत करता है। किन्तु निबंध कला के उद्भव काल से उपर्युक्त सीमा-बंधन को निबध-लेखको ने स्वीकार नही किया। भारतीय साहित्य में तो आधुनिक शैली के निबध का विकास बहुत परवर्त्ती काल में हुआ; अतः उसके स्वरूप का प्रश्न ही नही उठता। सस्कृत साहित्य में निबंध शब्द का प्रयोग उपलब्ध होने पर भी आधुनिक शैली के निबध का सर्वथा अभाव है। शास्त्रार्थ-चर्चा के लिए काव्य-शास्त्र या दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थों में जो वृत्तियाँ (गद्यात्मक रूप में) उपलब्ध हैं उन्ही को कुछ विद्वानो ने निबंध का प्रारूप कहा है। वृत्तियो के सकलित रूप को निबध मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नही होता; हाँ, उद्देश्य की दृष्टि से उनका निबध के साथ वादरायण सम्बन्ध स्थापित किया जा

सकता है। अतः संस्कृत-साहित्य के आधार पर निबंध-शैली का विवेचन सम्भव नहीं है।

पाश्चात्य साहित्य में, विशेषतः फ्रेंच और अंग्रेजी में, निबंध का व्यापक विस्तार है। वहाँ 'ऐस्से' शब्द के द्वारा निबंध का ग्रहण पुराने युग से चला आ रहा है। किन्तु प्रारम्भ में सुगठित और सुसम्बद्ध रचना की शर्त अनिवार्य नहीं थी। मौन्टेन के निबंधों में विशृंखलता और असम्बद्धता का साम्राज्य था; वह व्यक्तित्व को प्रधानता देकर आत्मीय तत्वों से समन्वित निबंध लिखने का विश्वासी था। प्रसिद्ध निबंध-लेखक बेकन ने तो निबंध को 'उच्छिन्न चिन्तन' (डिस्पर्सड मेडीटेशन) की संज्ञा देकर किसी बंधन या शृंखला के लिए अवकाश ही नहीं छोड़ा। कदाचित् आदि निबन्ध-लेखकों की इस निर्बन्ध आत्माभिव्यक्ति को लक्ष्य करके ही डा० जानसन ने निबंध की परिभाषा में 'मन के स्वच्छन्द विचरण से उद्भूत अनियमित एवं असम्बद्ध रचना' आदि वाक्यों को स्थान दिया था। किन्तु निबंध के क्रमिक विकास में इस उच्छृंखल और असम्बद्ध रचना-प्रक्रिया को चिरकाल तक स्वीकार नहीं किया गया। फलतः 'ऐस्से' या निबंध में शनैः शनैः सुशृंखल सीमा-मर्यादा, सुसम्बद्ध विचार-योजना तथा सुगठित वाक्य-विन्यास को स्थान मिलने लगा। शैली की दृष्टि से भी निबंध में दीप्ति, कान्ति, भव्यता और विशदता की अनिवार्यता अनुभव हुई और निबंध अपने यथार्थ रूप में पूरे निखार के साथ साहित्य-क्षेत्र में चमक उठा। अब निबंध के लिए एक ओर सुसम्बद्धता और एकसूत्रता अनिवार्य तत्त्व बने तो दूसरी ओर वैयक्तिकता एवं आत्मीयता की भी आवश्यकता सामने आई। निदान, गद्य के विविध रूपों में निबंध को विचार-प्रसार का सबसे अधिक वैज्ञानिक रूप माना जाने लगा और गद्य की कसौटी भी निबंध को ही स्थिर किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में निबंध की चर्चा करते हुए लिखा है—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है। तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंध में ही सबसे अधिक सम्भव है।"

शुक्ल जी की निबंध-विषयक मान्यता में पाश्चात्य संस्कारों का प्रभाव है। अर्थात् निबंध में व्यक्तित्व और व्यक्तिगत विशेषता की सन्तुलित स्वीकृति वे मानते हैं। किन्तु सुसम्बद्ध विचार-शृंखला तथा प्रकृत अर्थ योजना के अभाव में उच्छृंखल विचार-प्रवाह को शुक्ल जी ने स्वीकार नहीं किया है। निबंध-लेखक स्वेच्छा से विषय की सीमाओं में विचरण करता हुआ अपनी

बात कहने के लिए स्वतंत्र है किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध सूत्र का आधार उसके पास होना चाहिए। निबंध-लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ—अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों को लिए हुए—अपने विषय प्रतिपादन में प्रवृत्त हो। लेखक की प्रकृति का प्रभाव उसकी रचना पर पड़ना सहज है अतः करुण, विनोद, गम्भीर आदि अवस्थाओं का प्रतिफलन निबंधों में यथास्थान देखा जा सकता है। अर्थगत विशेषता के आधार पर भाषा और अभिव्यंजना-शैली में परिवर्तन भी शुक्ल जी आवश्यक समझते हैं। शुक्लजी के मत-में निबंध-लेखन एक गूढ़ और गंभीर कार्य है। विचारोद्भावन और विचारोत्तेजन करना निबंध का प्रधान गुण होना चाहिए। "निबंध पढ़ते ही पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े; वही निबंध अपने उद्देश्य में सफल समझा जायगा।' इसी कारण विचारात्मक निबंधों को शुक्लजी सर्वश्रेष्ठ कोटि का निबंध मानते हैं। शुक्लजी ने अपने निबंधों में उपर्युक्त मान्यताओं को पूरी तरह स्थान दिया है। उक्त मान्यताओं के आधार पर हम शुक्लजी के 'चिन्तामणि' में संकलित निबंधों पर विचार करेंगे।

'चिन्तामणि' में संकलित निबंधों को हम विचारात्मक कोटि के निबंधों में स्थान देते हैं—यद्यपि उन निबंधों में विचार की कोटियाँ समान न होकर त्रिविध हैं। प्रथम कोटि में वे निबंध आते हैं जिन्हें शुक्लजी ने स्वयं भाव या मनोविकार शीर्षक से मनोवैज्ञानिक वृत्तियों, स्थितियों और भावनाओं के प्रस्फुटन के लिए लिखा है। उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध ये नौ निबंध इसप्र थम कोटि के विचार-प्रधान मनोवैज्ञानिक निबंध हैं। दूसरी कोटि साहित्यिक विचार-प्रधान निबंधों की है जिनको उद्देश्य की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में वे निबंध हैं जो साहित्य के सैद्धान्तिक (शास्त्रीय) पक्ष का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। जैसे, कविता क्या है, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, तथा रसात्मक बोध के विविध प्रकार। चिन्तामणि (द्वितीय-भाग) के तीनों निबंध भी सैद्धान्तिक समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं। अतः उनका विवेचन भी इसी कोटि के भीतर किया जायगा। दूसरे भाग में हम उन निबंधों को स्थान देंगे जो साहित्यिक समीक्षा के व्यावहारिक पक्ष को लेकर लिखे गये हैं; जिनमें 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्तिमार्ग' और 'मानस की

धर्मभूमि' आते हैं। हम क्रमशः इन निबंधों की शैली पर नीचे की पंक्तियों में अपने विचार व्यक्त करेंगे।

मनोवैज्ञानिक निबन्ध

शुक्ल जी ने भावों और मनोविकारों को निबंध के लिए एक विशिष्ट उद्देश्य से ग्रहण किया था। समस्त मानव-जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं अतः सामान्य क्रिया-व्यापार से लेकर गंभीर काव्यादि रचना तक इन्हीं का प्रभाव व्याप्त रहता है। जब तक इनके स्वरूप का बोध न होगा तब तक मन की प्रवृत्तियों की प्रतीति भी सम्भव नहीं होगी। शुक्ल जी ने इस तथ्य को भली भाँति समझ कर इन विषयों के विवेचन का कार्य अपने हाथ में लिया। भाव और मनोविकार के साथ प्रत्येक मानव का परिचय होता है किन्तु उनके उद्भव, विकास और गति को समझना बड़े-बड़े पंडितों और ज्ञानियों के लिए भी दुष्कर है। यही कारण है कि इन विषयों पर हिन्दी में तो किसी लेखक ने लिखने का साहस ही नहीं किया अन्य भाषाओं में भी बहुत कम इन विषयों पर लिखा गया है। भारतेन्दु तथा द्विवेदीकालीन निबन्ध-लेखकों ने इन्हें दर्शन की परिधि में समझ कर स्पर्श नहीं किया। द्विवेदी जी ने मन और क्रोध आदि विषयों पर दो-तीन निबंध लिखे जो सतही स्पर्श के सिवा किसी गूढ़ अभिप्राय की व्यंजना नहीं कर सके। मनोवेगों की उत्पत्ति और उनके लक्षण तथा विकास को दृष्टि में रखकर तो कोई लेखक विचार ही नहीं कर सका था। मनोवैज्ञानिक आधार पर साहित्यिक शैली में मनोवेगों का सबसे पहली बार आचार्य शुक्ल ने ही विवेचन प्रस्तुत किया।

इन निबंधों पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनोवेग या मनोविकार साहित्यिक परिधि के विषय हैं या मनोवैज्ञानिक होने के कारण दार्शनिक कोटि में रखे जाने योग्य हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें दर्शन का विषय समझ कर यह व्यवस्था दे डाली है कि इन विषयों की मीमांसा शास्त्रीय चिन्तन है, साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं। इस शंका के निवारणार्थ हम इन निबंधों के मौलिक स्वरूप का उद्घाटन आवश्यक समझते हैं।

दर्शन या मनोविज्ञान चिन्तन-मनन की गूढ़-गम्भीर प्रक्रिया है। वस्तु-तथ्य का बोध और उद्घाटन उसका उद्देश्य है। तथ्यानुशीलन के कारण बौद्धिक तर्क और प्रमाण की पुष्ट पद्धति उसका आधार बनती है। किन्तु

इसके विपरीत काव्य या साहित्य आत्मानुभूति की सरस अभिव्यक्ति है जो भाव-सत्य पर केन्द्रित होकर मन की संवेदनशील गतियों का परिचय देती है। किसी बौद्धिक तथ्य को ग्रहण कर उसकी विवृति करना साहित्य का उद्देश्य नहीं होता। हृदय की रागात्मिका वृत्ति के द्वारा सौन्दर्य और आनन्द को मूर्त करना काव्य या साहित्य का ध्येय है। अतः कोई भी साहित्यिक उपक्रम दार्शनिक मतवाद के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य करके जीवित नहीं रह सकता। शुक्ल जी इस तथ्य से भली भांति परिचित थे अतः वे अपनी आत्माभिव्यक्ति और अनुभूति को दर्शन की शुष्क और नीरस सीमाओं में आबद्ध क्यों करते ?

इन निबंधों में शुक्ल जी ने विषय-प्रतिपादन करते समय यह ध्यान रखा है कि अपनी अनुभूति और प्रतीति को प्रमुख स्थान मिले, शास्त्रीय वचनों का दामन पकड़कर किसी सिद्धान्त की स्थापना न की जाय। किसी भी भाव, विचार या मनोवृत्ति का स्वरूप प्रतिपादन करने में शुक्ल जी ने कहीं भी शास्त्र का सहारा नहीं लिया। जीवन में प्रतिफलित होने वाले व्यावहारिक दर्शन को पकड़कर भावों और मनोवेगों की व्याख्या की गई है। कहीं व्यक्ति के माध्यम से इनका वर्णन हुआ है तो कहीं सामाजिक प्रभाव दिखाकर इनका आकलन किया गया है। अतः इन निबंधों को शास्त्रीय या दार्शनिक विवेचन समझना सरासर भूल है। शुक्ल जी जिस प्रकार साहित्य-विवेचन में रसवादी परिपाटी के समर्थक थे वैसे ही इन निबंधों में भी उनकी रसग्राहिता प्रतिबिम्बित होती दृष्टिगत होती है।

मनोवेगों का हमारे जीवन के साथ शाश्वत सम्बन्ध है। ये मनोवेग एक ओर जहाँ हमारे आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करते हैं वहाँ दूसरी ओर ये हमारे भौतिक अर्थात् सांसारिक जीवन का भी नियंत्रण और निर्माण करने वाले हैं। शुक्ल जी ने मनोविकार (इमोशन) तथा भाव-वृत्तियों (सेंटीमेंट) के वर्णन में उनकी इस द्विविध कार्य-क्षमता का ध्यान रखा है। साहित्य और जीवन को सम्पृक्त करके देखने की दिशा में इन निबंधों का अपूर्व योगदान है। शुक्ल जी ने अपनी साहित्य की समीक्षा में जिन मान्यताओं को स्थापित किया, यथार्थ में उनका मूलाधार इन भाव या मनोविकार-विषयक निबंधों में ही है। आलोचना के मानदंड के रूप में शुक्ल जी ने इन भाव-वृत्तियों को स्वीकार किया था। इसी कारण इन पर प्रकाश डालना उन्हें अनिवार्य प्रतीत हुआ। दर्शन की गहन-गूढ़ जटिलता में फँसकर इनका विश्लेषण उन्हें अभिप्रेत न था। जीवन के व्यवहार-पक्ष और साहित्य के वर्ण्य पक्ष को इन निबंधों के माध्यम

से एक सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत किया गया है, यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

मनोवैज्ञानिक निबंधों की शैली

विश्लेषण और व्याख्या का चरमोत्कर्ष इन निबंधों का शैलीगत सौंदर्य है। विश्लेषण के लिए समता-विषमता का प्रदर्शन, व्यास और समास शैली का ग्रहण, आगमन तथा निगमन-पद्धति का सम्यक् समन्वय स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है।

समास शैली से जहाँ भावाभिव्यक्ति हुई है वहाँ निबन्धों में सूत्रात्मक संक्षिप्तता, सौष्ठव और सुसम्बद्धता का सौन्दर्य देखा जा सकता है। विशद भाव-खंड को सूत्र के सीमित कलेवर में आबद्ध करना एक दुरूह प्रक्रिया है। केवल वे लेखक ही इस शैली में विचार व्यक्त करने में सफल होते हैं जो भाव को भली भाँति पचाकर उसके अनावश्यक विस्तार और अनपेक्षित आवरण को त्यागने में प्रवीण हों। सूत्रात्मक परिभाषाएँ स्थिर करना तो इससे भी एक कदम आगे की दुस्साध्य कला है। शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में इस प्रकार की बीसियों सूत्रात्मक परिभाषाएँ प्रस्तुत करके अपनी तत्वाभिनिवेशिनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ सूत्र-शैली की कतिपय परिभाषाएँ मनन करने योग्य हैं :

(क) 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' (चिन्तामणि, पृष्ठ ५)

(ख) 'साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।' (चिन्तामणि, पृष्ठ ६)।

(ग) 'श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।' (चिन्तामणि, पृष्ठ १७)

(घ) 'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।' (चिन्तामणि, पृष्ठ १३८)

(ङ) 'काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।' (चिन्तामणि, पृष्ठ १४५)

(च) 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।' (चिन्तामणि, पृष्ठ ३२)

समास शैली का दूसरा रूप वहाँ मिलता है जहाँ लेखक ने दो भावों या मनोविकारों का पारस्परिक सम्बन्ध, साम्य-वैषम्य, या तारतम्य व्यक्त किया है। इस साम्य-वैषम्य प्रदर्शन में सूत्र-रचना का चातुर्य देखकर पाठक शुक्ल जी की मेधा और प्रतिभा पर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(क) श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। (चिन्तामणि, पृष्ठ १८)

(ख) यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। (चिन्तामणि, पृष्ठ १८)

(ग) लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।
(चिन्तामणि, पृष्ठ ६९)

(घ) साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे लोभ और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे प्रेम कहते हैं।
(चिन्तामणि, पृष्ठ ८५)

(ङ) वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक।
(चिन्तामणि, पृष्ठ ९९)

(च) ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी सम्प्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है। (चिन्तामणि, पृष्ठ १०७)

(छ) ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत।
(चिन्तामणि, पृष्ठ १०८)

(ज) दुख-वर्ग में जो स्थान भय का है वही स्थान आनन्द-वर्ग में उत्साह का है। (चिन्तामणि, पृष्ठ ६)

शुक्ल जी ने अपने निबंधों में सर्वत्र समास शैली का ही आश्रय नहीं लिया है। अनेक स्थलों पर व्यास शैली से विषय की व्याख्या प्रस्तुत कर उसका अन्त में संक्षेप से सार लिखा है। व्यास शैली की विशेषता व्याख्या और विषय के परिधि विस्तार में देखी जा सकती है। व्यास शैली में भी दो रूप हैं; पहला रूप तो केवल किसी भाव या विचार की व्याख्या प्रस्तुत करके उसकी विशद परिभाषा करना है, दूसरा रूप है उस भाव या विषय की सीमा में आने वाले विविध विचारों का मूल विषय से साम्य-वैषम्य

या व्यावर्तन दिखाना। अतः व्यास शैली में भी दोनों प्रकार के अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं। व्यास शैली से विशद परिभाषात्मक प्रसगों के दो-तीन उदाहरण हम प्रस्तुत करते हैं—

(क) उत्साह की व्यास शैली से परिभाषा—

'जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना उत्पन्न होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चलता रहता है उसी का नाम उत्साह है।'
(चिन्तामणि, पृष्ठ १४)

(ख) श्रद्धा की व्यास शैली से परिभाषा :—

'किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है, उसे श्रद्धा कहते हैं।' (चिन्तामणि, पृष्ठ १७)

(ग) लज्जा की व्यास शैली से परिभाषा :—

दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होना है—उनकी स्वच्छन्दता के विघात का जो अनुभव होता है उसे लज्जा कहते हैं।' (चिन्तामणि, पृष्ठ ५६)

(घ) लोभ की व्यास शैली से परिभाषा—

'किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े, लोभ कहते हैं।'

दो भावों या मनोविकारों का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए वृत्तियों के व्यावर्तन के लिए भी व्यास शैली का सुन्दर प्रयोग किया गया है। शुक्ल जी ने व्यावर्तक धर्मों का निर्धारण जिस गहन अनुभूति और मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है वह उनकी तत्त्वाभिनिवेशिनी प्रतिभा और मनीषा का निदर्शन है। घृणा और क्रोध में पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए शुक्ल जी ने दोनों विषयों की प्रवृत्ति निवृत्ति तथा प्रेरक शक्ति का सूक्ष्म छानबीन के साथ विवेचन किया है। घृणा में विषय से दूर ले जाने की प्रवृत्ति है, यह प्रवृत्ति एक तरह से विषय से निवृत्ति का ही रूप है। घृणा को इसलिए शान्तभाव स्थिर किया

है। क्रोध में हानि पहुँचाने वाले के पास जाने की उद्वेगमयी (अशान्त) प्रवृत्ति रहती है अतः उसे प्रेरक-उत्तेजक या उद्वेगक भाव कहा जाता है। इस विषय को व्यावर्तन के आधार पर शुक्लजी ने मनोवैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत कर अपनी चिन्तन-शैली का अच्छा परिचय दिया है :—

"घृणा का भाव शान्त है, उसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नहीं होती। घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखाती है और क्रोध प्रवृत्ति का। × × × ×। घृणा विषय से दूर ले जाने वाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर कर विषय के पास ले जाने वाली।" (चिन्तामणि, पृष्ठ ६६)

इसी प्रकार लोभ और प्रीति का पार्थक्य सिद्ध करते हुए दोनों के मूल प्रवृत्तिपरक धर्मों को शुक्लजी ने मनोविज्ञान के आधार पर वर्णन किया है। यथार्थ में लोभ और प्रीति के बीच का अन्तर इतना सूक्ष्म और क्षणिक है कि उसका व्यावर्तन करना कभी-कभी कठिन हो जाता है। फिर भी शुक्लजी ने व्यक्ति और वस्तु के आधार पर उनका भेद स्थिर करने की सफल चेष्टा की है। "मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।" लज्जा और ग्लानि के विषय में भी लेखक ने इसी शैली का अनुसरण करके उनके धर्म-पार्थक्य द्वारा दोनों की सीमाएँ निर्धारित की हैं। इस वर्णन में प्रायः गहन चिन्तनपूर्ण व्यास शैली का आश्रय लिया गया है। हाँ, अभिव्यंजना अवश्य तत्सम-प्रधान और सुगठित पदावली द्वारा हुई है। साधारण पाठक को इस प्रकार के गंभीर चिन्तनपूर्ण स्थलों पर यदि कुछ क्लिष्टता प्रतीत हो तो यह लेखक का नहीं पाठक के ज्ञान की सीमा का ही दोष समझा जायगा। विचारों में सघनता होने पर भी स्वच्छता और स्पष्टता का कहीं अभाव नहीं है।

निबंधों में हास्य और व्यंग्य

शुक्ल जी गम्भीर प्रकृति के मननशील व्यक्ति थे। हास्य-विनोद उनकी सहज वृत्ति नहीं थी। अतः उनकी रचनाओं में विनोदपूर्ण हास्य की खोज करना व्यर्थ है। हाँ, किसी विषय का प्रतिपादन करते समय उस पर व्यंग्यमयी शैली से प्रकाश डालने के लिए शुक्ल जी हास्य का प्रयोग करते हैं किन्तु उनका *हास्य प्रायः व्यंग्यात्मक और वस्तुपरक (ऑब्जेक्टिव) होने के कारण पाठक के* स्मित आनन तक ही सीमित न रहकर उसके अन्तर में पैनी लकीर खींचता चला जाता है। उनका लक्ष्य विकच हास्य नहीं—विकल व्यंग्य होता है जो

अपने उद्देश्य तक पैने तीर की तरह पहुँचे बिना नहीं रुकता । व्यंग्यात्मक हास्य का प्रयोग टेढ़ी खीर है—सामान्य कोटि के लेखक के लिए यह साध्य नहीं । शुक्ल जी ने भी इसका प्रयोग बहुतायत से नहीं किया है । उनके निबंधों में इसका प्रयोग विरल है । तीन-चार स्थलों पर उनका हास्य शुद्ध-सरल हास्य ही रहा है और किसी प्रकार व्यंग्य के बिना, मृदुल-मोहक हँसी तक ही अपनी शक्ति को समेटे रहता है । हास्य और व्यंग्य का भेद यही है कि हास्य में छींटाकशी न होकर मनोरंजन ही प्रधान लक्ष्य रहता है किन्तु व्यंग्य में वर्ण्य या अभिव्यंग्य को सम्मुख रखकर सोद्देश्य प्रहार करना अभीष्ट होता है । व्यंग्य की प्रखरता उसके प्रहारजन्य प्रभाव से आँकी जाती है, हास्य की केवल मनोरंजन से । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में दोनों कोटि के हास्य-व्यंग्य मिलते हैं । फिर भी इतना ध्यान रखना चाहिये कि शुक्ल जी ने तामस कोटि के फूहड़ हास्य को कहीं भी स्थान नहीं दिया । हम उनके निबन्धों में से कुछ उदाहरण दोनों प्रकार के हास्य के प्रस्तुत करते हैं :—

'संगीत के पेच-पाँच देखकर हठयोग याद आता है । जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए, आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है । दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले आलसियों का आसन डिग जाता है ।"

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २४)

"काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया । × × × यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को फ़ीलपाव ! इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी मुठली धार की तलवार की-सी हो गई । (चिन्तामणि, पृष्ठ २५)

'रसखान तो किसी की लकुटी और कमरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल-भरे पैरों पर रीझ कर—या कम से कम न खीझकर—बिना मन मैला किये कमरे की फ़र्श भी मैली होने देंगे ? मोटे आदमियो, तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अँदेसे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता ।'

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ ७७)

'इस ज़माने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचो तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।' (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ १४)

उपरिलिखित चारों उदाहरणों में शुक्ल जी का हास्य पाठक को मोहक हास्य के वातावरण में ले जाने की पूरी शक्ति रखता है। पक्के गाने वाले कलावन्त का मुँह, काव्य-कलाओं को जलोदर और फीलपाव की बीमारी, मोटे आदमियो की स्वार्थ-वृत्ति तथा आधुनिक युग के वाग्वीरों की शूरवीरता किसे हँसी से परिपूर्ण नही करती।

मृदुल हास्य के साथ तीखा व्यंग्य भी शुक्ल जी के निबंधों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में तो व्यंग्यात्मक हास्य के बहुत ही मार्मिक उदाहरण मिलते हैं। निबधों में इस कोटि के व्यंग्य का प्रयोग अन्ध-विश्वास, छल, दम्भ, कपट आदि भावों को स्पष्ट करने के लिए हुआ है। ऐसे स्थलो पर व्यंग्य की ध्वनि एक ओर जहाँ हास्य की सृष्टि करती है वहाँ दूसरी ओर उन रूढियों और छलनाओ के—सामाजिक या धार्मिक असंगतियों के प्रति—मन में कुत्सा और वितृष्णा का भाव भी उत्पन्न करती है। इस प्रकार के हास्य-मिश्रित व्यंग्य में हल्की-सी चोट रहती है जो पाठक की चेतना को जागरित कर उसे प्रस्तुत विषय पर विचार करने के लिए बाध्य कर देती है। यह शैली काव्य के अप्रस्तुत विधान का ही रूप है जिसकी सराहना निबंध पढने पर प्रत्येक पाठक अवश्य करेगा। 'ह्यूमर' और 'सेटायर' में 'विट' का पुट देकर शुक्ल जी ने व्यंग्यात्मक हास्य का जो मिश्रण तैयार किया है वह अपनी प्रभावोत्पादकता में अद्वितीय है। नीचे के उदाहरणो से हमारे इस कथन की पुष्टि होगी।

परश्रद्धाकर्षण के लिए ढोंगी व्यक्तियों का वर्णन करते हुए शुक्ल जी ने बडी मीठी चुटकी लेते हुए लिखा है—

"आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले। × × × आजकल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार व्रत करते सुने जाते हैं।"

लज्जा और संकोच का भेद बताते हुए संकोच को लज्जा का हलका रूप ठहराते हुए कहते हैं कि प्रायः बहुत-से लोगों में यह अनेक अवसरो पर देखा जाता है। आगे इसी संकोच की बात कहते हुए व्यंग्य किया है—

"सारांश यह कि एक बेवकूफ़ी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं।"

धन के लोभ का वर्णन करते हुए बड़ा ही सुन्दर व्यंग्य किया है—'रुपये के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता, पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं, उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे।' आगे लोभ की वृद्धि और लक्ष्य की एकता का उल्लेख करते हुए धन की लोलुपता पर बड़ी सटीक उक्ति है—'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गये।' 'राज-धर्म, आचार्य-धर्म, वीर-धर्म सब पर पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गये × × केवल वणिग्धर्म रह गया।'

प्रीति के स्वरूप पर और उसके ग्रहण करने के नाम पर बड़ी मार्मिक उक्ति देखिए—'मेल से क्या-क्या लाभ होते हैं, यह तो न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।'

लोभ में आपादमग्न कृपण व्यक्तियों का उपहास करते हुए शुक्ल जी ने जिस व्यंग्यमयी प्रखर शैली को स्वीकार किया है वह हास्यपूर्ण कठोर व्यंग्य का सुन्दर निदर्शन है—"लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है !!" इस संदर्भ के प्रत्येक शब्द का अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ इतना मर्मगर्भ है कि पाठक के समक्ष प्रत्येक पद-पदार्थ मूर्तिमान् होता जाता है। शुक्ल जी के निबंधों में इस प्रकार के चुटीले व्यंग्य अनेक स्थानों पर मिलते हैं। देश-प्रेम की बात करते हुए कहते हैं कि "जो देश की प्रकृति और देश के स्वरूप का चिन्तन कर उसमें मग्न होता है वह सच्चा देश-प्रेमी है। भले ही वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले।" इसी प्रकार आधुनिक युग के उपकरणों और सामाजिक कार्यों पर व्यंग्य करते हुए कहा है—"अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्व हरण के लिए जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना आदि द्वारा रसपरिपाक सम्भव नहीं है।"

प्रमातान्विति और विषयान्तर

भाव और मनोविकार-सम्बन्धी निबंधों के मूल में कोई न कोई गम्भीर विचार रहता है जिसकी विवेचनात्मक शैली से विवृति करना लेखक का अभीष्ट

होता है। अतः निबंध में अथ से इति तक एक ही प्रभाव का सामंजस्य बनाये रखने पर भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए विषयान्तर या प्रासंगिक उद्भावनाएँ स्वीकार करने पर लेखक को विवश होना पड़ता है। सफल लेखक वह है जो विषय-प्रतिपादन के लिए प्रसंग-प्राप्त विषयान्तर ग्रहण करके भी मूल विचार की प्रभावान्विति में विघ्न बाधा उपस्थित न होने दे। शुक्ल जी के निबंध प्रभावान्विति की दृष्टि से इतने सुसम्बद्ध और पुष्ट हैं कि उनकी अवान्तर उद्भावनाएँ उन्हें कहीं भी शिथिल या निर्जीव नहीं बनने देती। हाँ, विषयान्तर स्वीकार करने में शुक्ल जी ने एक-दो स्थल पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पूरा-पूरा उपयोग किया है। उन्हीं दो-एक स्थलों को लेकर कुछ लोगों ने यह आपत्ति उठाई थी कि शुक्ल जी अपनी मान्यताओं की स्थापना के लिए अप्रासंगिक रूप से विषयान्तर ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु उन स्थलों का भी यदि निष्पक्ष भाव से पारायण किया जाय तो उनमें गम्भीर दोष-दर्शन का अवकाश न मिलेगा। उदाहरणार्थ श्रद्धा और भक्ति के प्रसंग में क्षात्र-धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करते हुए शुक्ल जी ने लम्बा प्रवचन प्रस्तुत कर दिया है। यह ठीक है कि श्रद्धा-भक्ति के प्रसंग में क्षात्र-धर्म का यह उपदेश संदर्भ के साथ पूर्णतया अन्वित नहीं होता और पाठक को लगता है कि जैसे लेखक अपनी क्षात्रधर्म-विषयक मान्यताओं को ऐसे अवसर पर सिद्धान्त-खंड के रूप में प्रस्तुत कर रहा है जिसके लिए कदाचित् यह उचित अवसर नहीं है। सबसे त्रुटिपूर्ण बात यह है कि यह निबंध इसी क्षात्रधर्म-सिद्धान्त के प्रवचन में मूल विषय से उच्छिन्न होकर एकदम (एबरप्टली) समाप्त हो जाता है।

विषयान्तर का दूसरा उदाहरण 'लोभ और प्रीति' निबंध में द्रष्टव्य है। प्रीति के अन्तर्गत लेखक ने देशप्रेम को घसीटा है और उसका प्रतिपादन इस शैली से किया है पाठक को उससे अरुचि नहीं होती। देश-प्रेम का वर्णन करते हुए इधर-उधर की बातें, जिनका साक्षात् प्रीति से कोई सम्बन्ध नहीं है प्रस्तुत की गई हैं और उन्हें लिखने में वैयक्तिक अभिरुचि का भी पुट दे दिया गया है। देशप्रेम के भीतर ही प्रकृति-प्रेम का भी ब्यौरेवार वर्णन है। कहीं-कहीं अवान्तर प्रसंग केवल विषय की सोदाहरण व्याख्या के लिए ही आये हैं। उनमें प्रसंगगर्भत्व-तत्त्व भी रहता है। भारतीय इतिहास या पौराणिक आख्यान की कोई मार्मिक घटना या व्यक्ति ऐसे अवसरों पर अंकित किया गया है। किन्तु ये अवान्तर प्रसंग प्रभावोत्पादन के साथ विषय की मूल विचार-धारा में व्याघात उत्पन्न नहीं करते। फलतः विचार का सतत प्रवाह रुकने पर

भी मूल प्रभावान्विति का तारतम्य बना रहता है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अपने काव्य-सिद्धान्तों का भी भाव और मनोविकार-विषयक निबंधों में वर्णन इन्हीं प्रसंगान्तर प्रसंगों या विषयान्तरों द्वारा लेखक ने किया है। उन स्थलों पर मूल उद्देश्य तो विषय की विवेचना ही है किन्तु उनका समर्थन किया गया है स्वमन्तव्यों द्वारा। लोकसंग्रह, शील और सौन्दर्य, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था आदि को उच्च स्थान देने आदि के लिए शुक्लजी ने विषयान्तर किया है। इन निबंधों में शुक्लजी के काव्य-सिद्धान्त खंड-रूप में छिटके पड़े हैं।

निबंधों की भाषा

शुक्लजी के निबंधों की भाषा अत्यधिक प्रौढ़, तत्सम-प्रधान और प्रांजल है। गुम्फित वाक्य-रचना के लिए भावव्यंजक पदावली का जैसा सुन्दर चयन शुक्लजी ने किया है वैसा हिन्दी-निबंध लेखकों में अन्यत्र नहीं मिलता। कहीं-कहीं भाषा में कविता का लालित्य भी दृष्टिगत होता है। तर्कपूर्ण वैज्ञानिक शैली के साहित्यिक निबंधों की भाषा का मानदंड शुक्लजी के इन्हीं भाव और मनोविकार-सम्बन्धी निबंधों से स्थिर किया जा सकता है।

विषय-प्रतिपादन के अवसर पर व्याख्यात्मक शैली के साथ भाषा भी अपेक्षाकृत सरल और प्रवाहमयी है। वहाँ न तो गूढ़ भाव्य-व्यंजक क्लिष्ट पदावली का प्रयोग है और न लाक्षणिक या शास्त्रीय शब्दों की भरमार। सीधी-सादी अभिव्यक्ति का ही लेखक ने आश्रय लिया है। वाक्य-योजना भी वार्तालाप-शैली की होने से इतनी सहज है कि यह नहीं प्रतीत होता कि लेखक किसी भाव या मनोविकार का रहस्य समझाने का प्रयत्न कर रहा है। भाषा का रूप घरेलू बातचीत के समान जाना-पहचाना-सा बना रहता है। जैसे—

"मान लीजिए कि एक ओर से हमारे गुरु जी और दूसरी ओर से एक दुष्टपापी दुष्ट दोनों आते दिखाई पड़े। ऐसी अवस्था में पहले हमें उस दुष्ट का सत्कार करके तब गुरु जी को दण्डवत करनी चाहिए।" इन दो वाक्यों में बात को समझाने की शैली घरेलू बातचीत की है। शब्द भी तद्भव ही हैं। इस प्रकार की भाषा व्याख्यात्मक शैली से किसी विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रायः प्रत्येक निबंध में मिलेगी।

भाषा का दूसरा रूप तत्सम और क्लिष्ट-पद-योजनापूर्ण है। ऐसे स्थलों पर सूक्ष्म भाव का साहित्यिक भाषा द्वारा विवेचन किया गया है।

उदाहरणार्थ—

"लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना। अतः वह आनन्द स्वरूप है।"

"भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का सकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं।"

तत्सम पदावली से परिपूर्ण वाक्य-योजना से तो ये निबंध आद्योपान्त भरे पड़े हैं अतः उदाहरण देकर विस्तार करना व्यर्थ है। अब काव्यमयी सरस भाषा वाले स्थलों का निर्देश करना हम आवश्यक समझते हैं। शुक्लजी साहित्य में चमत्कार का सदा विरोध करते रहे। उनकी मान्यता थी कि कोरा शब्द-चमत्कार न तो सुन्दर काव्य का स्रष्टा है और न वह उन्नत विचारशील भावुक का स्थायी मनोरंजन ही कर सकता है। अतः चमत्कार से बचना ही श्रेयस्कर है। किन्तु कहीं-कहीं वे स्वयं इस चमत्कार की सृष्टि कर गये हैं। शुक्लजी ने जिस समय साहित्य से परिचय प्राप्त करना प्रारम्भ किया था उस समय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन अपनी दीर्घ समास-शैली से निबंध लिखने में सलग्न थे। शुक्लजी ने उनकी शैली से अव्यक्त रूप में प्रभाव ग्रहण किया। यद्यपि वे प्रेमघन जी की शैली के समर्थक नहीं थे किन्तु उनके प्रेमी पाठक अवश्य थे। चिन्तामणि के निबंधों में तीन-चार ऐसे दीर्घ-समास शैली वाले स्थल हैं जहाँ कविता की भाषा को शुक्ल जी ने गद्य का परिधान देकर प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि उन स्थलों पर प्रेमघन जी की शैली का अव्यक्त प्रभाव है—

"जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ संचार, मकरन्द लोलुप-मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिन्दुमंडित मरकताभ शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल प्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए सब कुछ पाते हैं—तमाशबीन हैं।"

"जैसा कि कहा जा चुका है, सौन्दर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य में ही नहीं करता है प्रत्युत पल्लव-गुम्फित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्षजाल में, सिन्दूराभ सान्ध्य दिगंचल के हिरण्य मेखला-मंडित घनखंड में, तुषारावृत तुंग गिरि-शिखर में, चन्द्र-किरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौन्दर्य की झलक पाता है।" (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ १४५)

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों की भाषा अत्यन्त कवित्वपूर्ण एवं अनुप्रासमयी है। इसका कारण शुक्ल जी की प्रवृत्ति न होकर प्रसंग की अनिवार्यता ही समझना चाहिए। जिन संदर्भों में अन्य शैली को लेखक ने स्वीकार किया है वे काव्य का वातावरण प्रस्तुत करने वाले हैं अतः तदनुकूल अनुप्रासमयी कवित्वपूर्ण भाषा भी सहज ही में आ गई है। फिर भी निबन्धों में ऐसी भाषा के लिए विशेष अवकाश नहीं होता।

मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग शुक्ल जी के निबंधों में विरल है। दो-तीन स्थलों को छोड़कर कहीं भी मुहावरे नहीं आये हैं। जिन स्थलों पर मुहावरों का प्रयोग हुआ है वह एक सुनिश्चित वाक्य-योजना के साथ है। देखिए—

"यदि सब की पलक एकबारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँहों से बड़ी-बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फ़रमाइशें करने लगें, उँगली का सहारा पाने वाले बाँह पकड़ कर खींचने लगें, दूसरी ओर बड़ों का बड़प्पन निकल जाय, गहरे-गहरे साथी बहरे हो जायें या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें—फिर तो भवभवमाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायें कि वे उसे लेकर चल ही न सकें।" (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ ६६)

'अनिष्ट से बचने-बचाने के लिए इष्ट यही है कि हम दुष्टों का हाथ थामें और धूर्तों का मुँह। उनकी वन्दना करके हम पार नहीं पा सकते। इधर हम जोड़ेंगे उधर वे हाथ छोड़ेंगे।' (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ ६४)

"पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ावेंगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जाएगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं।" (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ ७२)

तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ उर्दू-फ़ारसी के कुछ गिने-चुने शब्द तथा प्रान्तीय बोली के भी पाँच-सात शब्द शुक्ल जी के निबन्धों मे साभिप्राय प्रयुक्त हुए हैं। यह समझ रखना चाहिए कि उर्दू-फारसी या देशज शब्दो के स्थान पर उन्होने तत्सम शब्दों का प्रयोग जान-बूझ कर बचाया है क्योंकि जिस विशिष्ट भाव की अभिव्यंजना उर्दू-फारसी या देशज शब्दो से सम्भव है वह तत्सम या तद्भव शब्दों द्वारा नही। उदाहरणार्थ, हम फ़ारसी के 'इजारा' शब्द को ही लें; इसके स्थान पर हिन्दी का कोई पर्यायवाची शब्द वैसी समर्थ और विशद व्यंजना नही कर सकता जो इस शब्द में समाविष्ट है। एकाधिपत्य के लिए 'इजारा' का व्यवहार अंग्रेज़ी के 'मोनोपली' से भी अधिक व्यंजक प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर पूरे वाक्य की योजना चलती उर्दू शैली में बहुत ही भावपूर्ण बन पड़ी है—'इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमो से मुलाकात करने से पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।' इस वाक्य में पाँच उर्दू-फारसी के शब्द हैं किन्तु उनका प्रयोग इतना व्यावहारिक और चालू शैली से हुआ है कि उनके लिए पर्यायवाची तलाश करना व्यर्थ है। झूठी कवायद, फ़िज़ूल की शिकायत, दुरंगी झलक, आशिक-माशूक के किस्से, मुनादी होना, कठहुज्जती आदि इसी तरह के अन्य उर्दू-शब्दों के प्रयोग हैं जो अपने प्रचलित रूप में वाक्य-रचना के साथ ऐसे 'फिट' बैठते हैं कि उनकी जगह समानार्थक हिन्दी शब्दो को कोई सहृदय स्वीकार नही करेगा। मसलवत, चुनांचे, गोया आदि भी कहीं-कहीं दीख पड़ते हैं। प्रान्तीय या देशज शब्दों में ढब, दुर्री, झोंक, परच, लहक आदि थोड़े-से प्रयोग हैं किन्तु इनका माधुर्य संदर्भ में ही सराहा जा सकता है। व्यावहारिक और प्रचलित शब्दो को भी शुक्ल जी ने स्वीकार किया है—जैसे अटकल-पच्चू फेर-फार, कलेजा चिरना, इधर-उधर फिरना, तड़क-भड़क आदि।

शुक्लजी की भाषा की सबसे महान और उल्लेख्य विशेषता है समर्थ एवं भावव्यंजक शब्दो का नूतन निर्माण। ऐसे भी अनेक शास्त्रीय शब्द हैं जिनका प्रयोग शुक्ल जी से पहले हिन्दी निबंध या समालोचना में किसी ने नहीं किया था। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के उन शब्दों का शुक्ल जी ने बेधड़क प्रयोग किया और उन्हें सर्वजन-सुलभ बनाया। अंग्रेजी समीक्षा-शास्त्र के शब्दो को भी शुक्ल जी ने भावानुवाद के माध्यम से हिन्दी में ग्रहण किया और उनका प्रचार करके परवर्ती लेखकों के लिए उपादेय बनाया। यदि ऐसे शब्दों की तालिका तैयार की जाय तो वे कई सौ होंगे। अंग्रेज़ी शब्दों का अनुवाद

यद्यपि सब जगह पूर्ण व्यंजक नहीं हुआ फिर भी उसमें अर्थबोध की पर्याप्त शक्ति है। कहीं-कहीं साधारण बोलचाल के रूप में प्रयुक्त होने वाले अंग्रेजी शब्दों को तत्सम रूप में ही ग्रहण किया है जैसे, इंजन, पास, लेक्चर आदि शब्द। कहीं-कहीं अंग्रेजी के मुहावरों का हिन्दी रूपान्तर भी शुक्ल जी ने स्वीकार किया है।

व्यक्ति-प्रधान या विषय-प्रधान ?

आचार्य शुक्ल के 'चिन्तामणि' में संकलित विचारात्मक मनोवैज्ञानिक निबंधों के विषय में यह विवाद रहता है कि ये विषय-प्रधान हैं अथवा व्यक्ति-प्रधान। इस सम्बन्ध में अपना निर्णय देने से पूर्व हम स्वयं लेखक के स्पष्टीकरण की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। चिन्तामणि के निवेदन में शुक्लजी ने इन निबंधों को 'अपनी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश' माना है। बुद्धि और हृदय के सहयोग से भावलोक की यह यात्रा सम्पन्न हुई है। यात्री तो बुद्धि ही है पर एकाकी नहीं—हृदय उसका साथी है। यात्रा के मार्ग (विषय) का संधान बुद्धि ने किया है किन्तु मार्मिक प्रदेशों में पहुँचने पर हृदय उसमें रमा है। अर्थात् "बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।" उक्त परिष्कार के बाद लेखक ने यह निर्णय नहीं दिया कि वह इन निबंधों को व्यक्ति-प्रधान मानता है या विषय-प्रधान।

शुक्लजी के निवेदन का यदि विश्लेषण किया जाय तो इतना तो स्पष्ट है कि इन निबंधों का मुख्य सम्बन्ध बुद्धि (विषय) से रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय (व्यक्तित्व) को भी कुछ न कुछ मिलता अवश्य रहा है किन्तु यात्रा बुद्धि ने की है। अतः बुद्धि के प्रमुख होने पर विषय की प्रमुखता तो अपने आप ही सिद्ध हो जाती है। फिर भी यह प्रश्न विवादास्पद क्यों बना, यह विचारणीय है।

व्यक्ति-प्रधान निबंध (पर्सनल एस्से) की सीमा-मर्यादा पर विचार करने पर यह प्रश्न सुलझ जाता है। वैयक्तिक भावनाओं, विचारों, अनुभूतियों और मान्यताओं के आरोप से जो निबंध लिखे जाते हैं; जिनमें व्यक्तिगत सुख-दुख, रुचि-अरुचि, त्याग-ग्रहण की ही चर्चा रहती है वे व्यक्ति-प्रधान कहे जाते हैं। अंग्रेजी में चार्ल्स लैम्ब, सौहृद, हैज़लिट और स्टीवेन्सन प्रभृति लेखकों में इस कोटि के निबंध लिखने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। हिन्दी में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबंध इस कोटि के हैं। वर्तमान

युग में बाबू गुलाबराय ने उच्च कोटि के वैयक्तिक निबंध लिखे हैं। बाबूजी के आत्मव्यंजक निबंध हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ कोटि के हैं। उनके निबंधों के विषय भी कभी-कभी इतने आत्मनिष्ठ और वैयक्तिक होते हैं कि पाठक को रसानुभूति होने पर भी लेखक के निजी रूप की छाप से मुक्ति नहीं मिलती। उन निबंधों में लेखक कभी-कभी ऐसी विलक्षण और वैयक्तिक अनुभूति और मान्यता का वर्णन प्रस्तुत करता है जो सामान्य पाठक की अनुभूति से तादात्म्य नहीं रखती। फलतः उनको विषय-प्रतिपादन और व्यक्ति के निकट पाकर हम व्यक्ति-प्रधान कह देते हैं। व्यक्ति-प्रधान निबंधों में विषय का स्वरूप इतना क्षीण और दुर्बल रहता है कि उसकी ओर न तो लेखक का ध्यान जाता है और न पाठक ही पूरा निबंध पढ़कर प्रतिपाद्य विषय से अवगत होता है। व्यक्ति-प्रधान निबंधों की जहाँ यह कमजोरी है वहाँ रोचकता और सरसता के कारण उनमें पाठक की चित्तवृत्ति को रमाए रखने की प्रबल शक्ति होती है। कभी-कभी तो पाठक गल्प, उपन्यास या आत्मकथा के सदृश रसानुभूति करने लगता है और उनमें लीन होकर यह विस्मृत कर बैठता है कि वह निबंध पढ रहा था या लेखक के आत्मचरित का कोई मोहक विवरण। इन निबंधों में लेखक प्रायः प्रथम पुरुष में आत्माभिव्यक्ति करके किसी घटना या तथ्य का वर्णन प्रस्तुत करता है।

इसके विपरीत विषय-प्रधान निबंध का आधार प्रतिपाद्य वस्तु होती है जिसकी रूप-संघटना के लिए लेखक को युक्ति, तर्क, प्रमाण, दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करके उसका आकार खड़ा करना होता है। लेखक को अपने अधीत और अनुभूत ज्ञान की समस्त अर्जित सम्पत्ति विषय-प्रतिपादन मे लगानी होती है। लोक-व्यवहार को ध्यान में रखकर उसका भी अपने विषय की पुष्टि में उपयोग करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि प्रतिपाद्य विषय को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों से सामग्री चयन करके उसे ऐसा रूप देना अनिवार्य समझा जाता है जो पाठक के लिए सुपाठ्य होने के साथ-साथ बुद्धिग्राह्य हो सके। फलतः विषय-प्रधान निबंध की आत्मा का निर्माण व्यापक भाव-सामग्री से होता है, केवल लेखक की आत्माभिव्यंजक उक्तियों या अनुभूतियों के चित्रण से नहीं। विषय-प्रधान निबंध जब किसी विचार या भाव को केन्द्रबिन्दु बनाकर लिखे जाते हैं तब लेखक उसमें उन्हीं आत्मानुभूतियों का पुट दे सकता है जो आत्म-सीमा का अतिक्रमण कर सहज ही परानुभूति भी बनने में समर्थ हों। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति की अनुभूति

होने पर भी उनकी संवेदना अनेक की बन सके अर्थात् वे व्यष्टि-सीमा से परे समष्टि में समा सकें। प्रतिपाद्य विषय काल की दृष्टि से कालातीत, देश की दृष्टि से सार्वदेशिक और व्यक्ति की दृष्टि से सार्वजनीन होकर सबका बन सके। विषय-प्रधान निबंधों में व्यक्तित्व का आरोप केवल शैली में किया जा सकता है। समर्थ लेखक सदैव अपनी वैयक्तिक शैली को अक्षुण्ण रखते हुए विषय का प्रतिपादन करते हैं। उनके विषय-प्रधान निबंध भी अभिव्यंजना में व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप लेकर सामने आते हैं कि उनका प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पद और प्रत्येक शब्द लेखक के नाम का जयघोष करता सुनाई देता है।

व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान निबंध की सीमाओं का संक्षेप में वर्णन करने के बाद शुक्लजी के निबंधों पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष सहज ही में निकाला जा सकता है कि भाव या मनोविकार-सम्बन्धी विषयों पर लिखते समय लेखक के समक्ष गंभीर तथ्य-निरूपण ही प्रमुख रहा है। लेखक का ध्येय सूक्ष्म भाव या मनोविकार का वैज्ञानिक विवेचन करना है; उसका मनमाना मनगढ़ंत वर्णन करना नहीं। लोकानुभव की भित्ति पर लेखक ने अपने प्रतिपाद्य का भवन खड़ा किया है; केवल वैयक्तिक विचार या कल्पना के आधार पर मन की मौज या तरंग में बहक कर इन्हें नहीं लिखा है। सुगुम्फित विचार-परम्परा की निहिति लेखक का जागरूक प्रयत्न है। अभीष्ट विषय को तर्क, युक्ति, प्रमाण और लोक-दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत करने का तात्पर्य यही है कि ये निबंध व्यक्ति-सीमा (लेखक) को लाँघकर समष्टि-सीमा (सहृदय पाठक) में समा सकें। अतः निबंध की कसौटी पर कसने पर हम इन्हें विषय-प्रधान ही समझते हैं। हाँ, व्यक्तित्व का स्पृहणीय संयोग इन निबंधों में लेखक ने अभिव्यंजना-शैली और कहीं-कहीं विषय-प्रतिपादन के लिए दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करने में किया है। उस स्पृहणीय संयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती और इसीलिए इन निबंधों के वैयक्तिक पक्ष पर विचार करते समय उसका उचित मूल्यांकन भी करना आवश्यक है।

शुक्ल जी के भाव और मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों पर दृष्टिपात करते समय मूलतः उनके प्रतिपाद्य पर ही ध्यान रखना चाहिए क्योंकि लेखक भावों और मनोविकारों का सामाजिक तथा साहित्यिक दृष्टि से स्वरूप-निर्धारण करने में प्रवृत्त हुआ है; उनके सम्बन्ध में अपनी वैयक्तिक रुचि या भावना का वर्णन करना उसका लक्ष्य नहीं है। अतः इस भ्रम के लिए कोई अवकाश नहीं है कि शुक्ल जी के निबंध व्यक्ति-प्रधान हैं और उनका मूल्यांकन वस्तु के आधार

पर न करके व्यक्ति-विचार के आधार पर होना चाहिए। उनके निबंध अकेले लेखक के हृदय से ही सम्बन्ध नहीं रखते वरन् मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले हैं।

शुक्ल जी समर्थ शैलीकार निबन्ध-लेखक हैं। उनकी शैली का वैशिष्ट्य शब्द-चयन, पदयोजना, वाक्य-रचना, सादृश्य-विधान आदि सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। शैली को व्यक्तित्व का प्रतिरूप कहा जाता है—'स्टाइल इज द मैन इटसेल्फ' का प्रयोजन ही यह है कि समर्थ शैली-निर्माता अपनी प्रत्येक रचना में अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ प्रतिबिम्बित रहता है। व्यक्तित्व की यह स्पष्ट छाप देख यदि कोई पाठक उस रचना को व्यक्ति-प्रधान समझ बैठे तो यह उसकी भूल है। शैलीगत व्यक्तित्व तो प्रत्येक समर्थ लेखक की पहचान है। इसके अभाव से लेखक को साहित्य में स्थायित्व ही नहीं मिलता। अतः व्यक्तित्व के स्वरूप का निर्धारण करते समय शैली से ही किसी रचना को व्यक्ति-प्रधान नहीं कहा जा सकता। 'पर्सनल एस्से' का तात्पर्य है उसमें निहित भाव, विचार या वस्तु का वैयक्तिक रूप से वर्णन। कभी-कभी इस प्रकार के वर्णन व्यक्तिगत अनुभूति या कल्पना तक ही सीमित रहते हैं, पाठक का उनके साथ न तो तादात्म्य होता है और न साधारणीकरण द्वारा आनन्दोपलब्धि ही। किन्तु सभी व्यक्ति-प्रधान निबंधों में यह त्रुटि नहीं पाई जाती। सुन्दर निबंध व्यक्ति-प्रधान होने पर भी इतने रोचक और आकर्षक होते हैं कि पाठक का मन उनमें लीन होकर रसानुभूति करता है।

व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की एक शैली प्रथम पुरुष का प्रयोग है। 'मैं' सर्वनाम का प्रयोग करके लेखक स्थान-स्थान पर स्वानुभूतियों को उपन्यस्त करके निबंध को कलेवर देता है। शुक्ल जी ने भी अपने निबन्धों में अनेक स्थलों पर 'मैं' सर्वनाम द्वारा स्वानुभूति या स्वमत प्रकाशन की शैली स्वीकार की है। शुद्ध आत्माभिव्यक्ति का स्वरूप विषय से दूर मन की तरंग में बहकर वर्णन करना मात्र है जो शुक्ल जी को कभी ग्राह्य नहीं हुआ। अतः प्रथम पुरुष 'मैं' शब्द के प्रयोग से इन निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान ठहरा देने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए। प्रथम पुरुष में वैयक्तिक घटनाओं का वर्णन या स्वमत प्रकाशन के कतिपय प्रसंगों का संकेत हम चिन्तामणि के निबंधों में कर सकते हैं—

"एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोलभाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं—इतना लो तो लें। इतने ही में सौभाग्यवश दुकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आगये और उन्होंने चट कहा—'माया छोड़ो और इसे ले लो।' सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्य-क्षेत्र! यहाँ न माया छोड़ी जायगी तो कहाँ छोड़ी जायगी।" (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २८)

"एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते-फूँकते थक गये। जब आग न जली तब उस पर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गये। इस प्रकार क्रोध अपरिष्कृत है।" (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ १३५)

"मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। × × × वसन्त का समय था। महुए चारो ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा, 'यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।" (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ ७८)

"मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बतलाना 'पर-उपदेश-कुशल नीतिज्ञों' का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न है।" (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ ७९)

उल्लिखित चारो उद्धरणों में लेखक ने प्रथम पुरुष एकवचन सर्वनाम 'मैं' द्वारा भावाभिव्यक्ति की है। इन प्रसंगों में प्रथम पुरुष का प्रयोग किसी घटना विशेष की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट कर मूल विषय के प्रतिपाद्य के साथ उसे संयुक्त करना है। ये स्वानुभूतिपरक घटनाएँ केवल आत्माभिव्यंजन के उद्देश्य से नहीं लिखी गई हैं अतः इस प्रकार के पाँच-दस प्रसंगों के आधार पर निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान नहीं ठहराया जा सकता।

संक्षेप में, इन निबंधों में विषय-प्राधान्य होने पर भी विद्वान लेखक ने व्यक्तिगत शैली और यथास्थान उदाहरण, दृष्टान्त आदि द्वारा व्यक्तित्व का ऐसा सुन्दर समावेश किया है कि हम लेखक के व्यक्तित्व का क्षण भर के लिए भी विसर्जन नहीं कर पाते। विषय और व्यक्तित्व के समीचीन समन्वय से ही

इन निबंधों की रचना हुई है किन्तु केवल व्यक्तिगत अनुभूति, मान्यता या अभिरुचि के आधार पर विषय-प्रतिपादन नहीं किया है। व्यक्तित्व का समावेश विषय का सहायक और समर्थक है, स्वतन्त्र रूप से निबंध का अधिष्ठान उसमें नहीं है।

सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्ध

शुक्ल जी ने समीक्षा-शास्त्र के कतिपय गूढ़ गंभीर प्रश्नों पर विचार करने के लिए फुटकर निबंध लिखे हैं जिनमें से चिन्तामणि (प्रथम भाग) में चार निबंध संकलित हैं। इनमें से प्रथम निबंध 'कविता क्या है' एक ऐसा विशद व्यापक निबंध है जो शुक्ल जी की विविध मान्यताओं का एक साथ परिचय करा देता है। इस निबंध में शुक्लजी ने अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के साथ शाश्वत सत्य के उद्घाटन का प्रयास किया है जो कविता के स्वरूप निर्धारण में सार्वजनिक रूप से स्वीकृत होते हैं। व्यक्तिगत मान्यताएँ भी सर्वथा एकांगी और अग्राह्य नहीं हैं। हाँ, उनमें किसी-किसी स्थल पर मतभेद सम्भव है। जैसे काव्य और सूक्ति का भेद करते हुए शुक्लजी ने जो अभिमत प्रकट किया है वह अन्तिम व्यवस्था नहीं हो सकती। सूक्ति और काव्य के भेद को स्पष्ट करने के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें मतभेद की पूरी गुंजाइश है। सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए अपेक्षित वाक्य-योजना करते हुए लेखक ने बार-बार एक ही मन्तव्य पर चोट की है जैसे वह पाठक के अन्तर में उस सिद्धान्त को 'अंकित करने के लिए कटिबद्ध हो। 'काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह सिद्धान्त एक ही निबंध में घुमा-फिरा कर तीन बार दुहराया गया है। इन निबंधों में शुक्लजी ने भारतीय दर्शन, इतिहास, पुराण और काव्य-शास्त्रादि से उपयुक्त सामग्री का चयन किया है। इसके साथ ही भारतीय दृष्टिकोण से उन्होंने देश, जाति, धर्म और संस्कृति का अवगाहन भी किया है। मेघदूत का प्रसंग आने पर वे उसे भारत-भूमि के स्वरूप का मधुर ध्यान कहकर देश-प्रेम का प्रतीक मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह काव्य प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि है।

काव्य को व्यवहार के साथ तथा मनुष्यता की उच्च भूमि के साथ जोड़ने की शैली में शुक्लजी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। इसी प्रकार भावना और कल्पना के प्रसंग में भी कल्पना के आतिशय्य का

विरोध करते हुए भावना अर्थात् भाव-वस्तु की प्रधानता स्वीकार की है। सौन्दर्य, चमत्कारवाद, मनोरंजन, कविता की भाषा आदि प्रसंगों पर विचार व्यक्त करते समय शुक्लजी ने बड़ी स्पष्टता तथा प्रखरता से काम लिया है।

'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' शीर्षक निबंध शैली की दृष्टि से बहुत ही पुष्ट निबंध है। लोक मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर काव्य लिखने वाले कवियों तथा सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर काव्य-रचना करने वाले कवियों का भेद प्रदर्शन इस निबंध का मूलाधार है। अपने मन्तव्य की स्थापना में शुक्लजी ने तर्क, प्रमाण और युक्ति का जो कोटिक्रम रखा है वह पाठक को एक बार तो प्रभावित कर ही लेता है। हो सकता है सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले कवियों को भी उत्तम कोटि का कवि समझा जाय किन्तु शुक्लजी की विचार-परम्परा का सामान्य रूप से प्रत्येक पाठक अनुगमन करता ही है। इस निबंध में भारतीय महाकाव्य-परम्परा को शुक्लजी के साधनावस्था की उत्कृष्ट रचना ठहराया है। सिद्धान्त-प्रतिपादन की शैली यहाँ भी आगमन और निगमन दोनों पद्धतियों पर आधृत है। भावों को छानबीन करने पर मंगल का विधान करने वाली दो वृत्तियाँ आपने स्थिर की हैं—करुणा और प्रेम। "करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है, रंजन का अवसर पीछे आता है।" इस सिद्धान्त को शुक्लजी ने अनेक युक्तियों से पाठक के अन्तर्मन में उतारने का सफल प्रयास किया है।

'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' शुक्ल जी का गंभीर सैद्धान्तिक निबंध है जिसमें साधारणीकरण की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। इस निबंध के दो भाग हैं—व्यक्ति-वैचित्र्य वाले दूसरे भाग में लेखक ने उन पाश्चात्य वादों की निस्सारता दिखाई है जो समष्टि की उपेक्षा करके व्यष्टि-सीमा तक ही विनोद या क्षणिक रंजन में विश्राम करके निमित होते हैं। विम्बग्रहण वाली बात पर इस निबंध में पर्याप्त बल दिया गया है। निबंध की शैली शास्त्रीय विचार-चिन्तन की है। शब्दावली में यद्यपि कुछ क्लिष्टता दृष्टिगत होती है किन्तु ऐसे गंभीर विषय पर चलताऊ पदावली का प्रयोग सम्भव भी नहीं है। हिन्दी में साधारणीकरण को सबसे पहली बार इस निबंध द्वारा शास्त्रीय विवेचन का रूप मिला है। अतः जो शास्त्र-सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित हैं उन्हें इसमें क्लिष्टता प्रतीत हो तो लेखक का इसमें दोष नहीं समझा जाना चाहिए।

'रसात्मक बोध के विविध रूप' शुक्ल जी के मौलिक चिन्तन से प्रसूत विचारपूर्ण निबंध है। इसमें प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा उसके द्वारा रसात्मक प्रतीति का विधान शुक्लजी ने जिस आधार पर सिद्ध किया है उसका प्रामाणिक शास्त्रीय आधार भले ही न मिले किन्तु लेखक की शैली में इतना बल है कि उसे अस्वीकार करते नहीं बनता। कल्पना और स्मृतियों का व्यावर्तन करते हुए लीन करने वाली मर्मस्पर्शी स्मृतियों को लेखक ने काव्य की अमूल्य निधि ठहराया है।

यथार्थ में इन निबंधों का उद्देश्य ही शास्त्रीय सिद्धान्तों का बौद्धिक आधार पर विवेचन करना है। जिस रूप में शुक्ल जी ने इन शास्त्रीय विषयों को देखा-परखा और समझा है उसी रूप में सामान्य पाठक के लिए प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य रहा है। इन निबंधो की शैली ने जो मापदंड स्थिर किये उनका अनुगमन परवर्ती काल में दो-तीन लेखक ही कर सके। किन्तु इनके द्वारा शास्त्रीय चिन्तन की परिपाटी स्थिर हुई; विचार-विमर्श के लिए उपयुक्त शब्द, वाक्य और अभिव्यंजना-शैली उपलब्ध हुई। निबंधों द्वारा समीक्षा और सिद्धान्त-प्रतिपादन का मार्ग उन्मुक्त हुआ—यही इनकी सबसे बडी देन है। इस दिशा में विषय-वस्तु के प्रतिपादन के साथ अभिव्यंजना की शैली का भी बडा महत्व मानना होगा।

जून १९५२।

: ४ :

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि

कामायनी एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। ऐतिहासिक होने के कारण इसका आधार अनिवार्यतः सैद्धान्तिक है। इतिहास को दर्शन का बहिर्विकास स्वीकार करने के कारण कवि का ध्यान भौतिक घटनाओं के मूल में सन्निविष्ट उन सिद्धान्तों की ओर सतत बना रहा है जिनके द्वारा जगत् और जीवन की गतिविधि का यथार्थ रूप में आकलन होता है। मनु और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा के साथ इसमें मानव-मन के विकास और मुक्ति की मनोवैज्ञानिक कथा भी है; अतएव इसका दार्शनिक आधार अपेक्षाकृत व्यक्त और स्पष्ट है। मनु अर्थात् मनन-शक्ति (मन) के साथ श्रद्धा अर्थात् हृदय की भावनात्मक सत्ता, विश्वास-समन्वित-रागात्मिका वृत्ति तथा इडा अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि के संघर्ष और समन्वय का विवेचन ही कामायनी का दार्शनिक आधार है। देव-सृष्टि के ध्वंस के उपरान्त अभिनव मानव-सृष्टि का सूत्रपात करने वाले मनु, वेद, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनुसार एक विख्यात ऐतिहासिक पुरुष भी हैं और साथ ही उनकी कथा मानव-विकास-रूपक का सुदृढ़ आधार भी है। कामायनी की कथा का परिनिर्माण मनु अर्थात् मन की आनन्दोपलब्धि के साथ

होता है अतएव इसमें आनन्दवाद की प्रतिष्ठा सर्वत्र असदिग्ध है। यह आनन्द-वाद दार्शनिक सिद्धान्त या वाद की दृष्टि से प्रसाद जी की अपनी मौलिक सृष्टि है जिसके निर्माण में उन्होंने मुख्य रूप से शैव दर्शन, बौद्ध दर्शन, वेदान्त दर्शन, उपनिषद् तथा वर्तमान युग की सामाजवादी प्रवृत्तियों का आवश्यकतानुरूप उपयोग किया है। किसी एक मतवाद को पकड़कर उसी की अन्ध-उपासना प्रसाद जी को अभीष्ट नही थी।

कामायनी का आधारभूत सिद्धान्त आनन्दवाद है। मन के सामरस्य दशा में अवस्थित होने पर ही आनन्द-प्राप्ति होती है। मानव-मन का परम ध्येय है शाश्वत आनन्दोपलब्धि। आनन्द-प्राप्ति के साधनो में पर्याप्त मतभेद होने पर भी 'आनन्दोपलब्धि'-रूप ध्येय के विषय में आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों में अविरोध पाया जाता है। प्रसाद जी ने कामायनी में आनन्द को साध्य मान कर जिस साधना को प्राथमिकता दी है वह है श्रद्धा और इड़ा की समन्वय-भावना। श्रद्धा और इडा में समन्वय उत्पन्न होने पर ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में सामरस्य उत्पन्न होता है और यह साम्यरस ही दुःख-नाश के उपरान्त अनन्त आनन्द का पथ प्रशस्त करता है। जब मन पूर्णतः श्रद्धावान होकर लक्ष्याभिनिवेशी होगा तभी आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। अतः श्रद्धा का आनन्दवाद की स्थापना में महत्वपूर्ण योग है।

श्रद्धा शब्द का तात्त्विक अर्थ है विश्वास समन्वित-रागात्मिका वृत्ति। कामायनी में श्रद्धा को विश्वास, प्रेम, सहानुभूति, दया, सौख्य आदि उदात्त भावो का प्रतीक कहा गया है। वह जगद्धात्री, सर्वमंगला, प्रसून-धाम आदि रूपों में भी स्थान-स्थान पर वर्णित हुई है। वेद, उपनिषद्, गीता, योग-दर्शन, त्रिपुर-रहस्य आदि शास्त्रो में श्रद्धा को लोक-कल्याण-प्रवर्तन की मूल वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। 'श्रद्धाहि जगतां धात्री, श्रद्धाहि सर्वस्य जीवनम्', कहकर ही सन्तोष नही हुआ, वरन् श्रद्धा के अभाव में जगत् की स्थिति भी सम्भव नही मानी गई—'श्रद्धा वैधुर्य योगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः।' 'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्' कहकर गीता में श्रद्धा का परम पुरुषार्थ मोक्ष से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया गया है। श्रद्धामूलक साधना से श्रद्धानुरूप फल-प्राप्ति गीता में बताई गई है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुष. यो यच्छ्रद्ध स एव सः।' ऋग्वेद में श्रद्धा का गौरव और महत्त्व विस्तारपूर्वक वर्णित है जिसमें श्रद्धा को अभीष्ट फलदात्री तथा वैभव की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है—

'श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥' ऋग्वेद संहिता १०-१५

वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक श्रद्धा अपने गौरवपूर्ण आसन पर समासीन रही और उसके महत्त्व का सतत आख्यान होता रहा। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने काव्य रामचरितमानस को हृदयगम कर लाभ उठाने के लिये सबसे पहले श्रद्धा का होना अनिवार्य बताया—

"जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिन कँह मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा अपने तात्त्विक अर्थ के साथ व्यावहारिक रूप में भी जो उपयोगिता रखती है वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं। कामायनी में तो श्रद्धा का प्रभाव आदि से अन्त तक छाया हुआ है, उसके प्रति निष्ठावान हुए बिना काव्य के मर्म को समझना भी सम्भव नहीं।

मानव-मन के मस्तिष्क-पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी वृत्ति है इडा अर्थात् बुद्धि। यह वृत्ति व्यवसायात्मिका है जो तर्क-वितर्क में उलझकर मानव को आनन्द-प्राप्ति के पथ से हटाने में लीन रहती है। ऋग्वेद में इडा-सम्बन्धी एक सूक्त है जिस में इडा को बौद्धिक ज्ञान का प्रतीक कहा गया है। बुद्धि का प्रतीक होने के कारण "इडा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है।" (आमुख-कामायनी)। यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि इडा (बुद्धि) मन को उत्तेजित करने में तो समर्थ है किन्तु मन को परितुष्ट करने की क्षमता उसमें नहीं है। यही कारण है कि श्रद्धाहीन बुद्धि क्लेश, संघर्ष और संघर्ष को जन्म देने में ही लीन देखी जाती है। तर्क-वितर्क और विघटन के ऊहापोह के कारण बुद्धि का स्वतन्त्र व्यक्तित्व इस संसार में कोई कल्याणकारी निर्माण नहीं कर पाता। कामायनी के इडा सर्ग में प्रसाद जी ने इसका स्वरूप और स्वभाव इस प्रकार वर्णन किया है—

हाँ अब तुम बनने को स्वतन्त्र,
सब कलुष ढालकर औरों पर रखते हो अपना अलग तन्त्र।
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मन्त्र।
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया।

प्रत्येक कार्य में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार समरसता व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों ओर से उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और उसमें उठने वाली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान् मणि-समूह बिखरते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसता में उठने वाली दुःख की नील लहरियों के बीच मणिगण के समान चमकीले सुख-स्वप्न भग होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दुःख की चिन्ता छोड़कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए। शैवागमों के अनुसार यही लोक का कल्याण भी है।" संक्षेप में, जो सामरस्य लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाला साधन है, वही शाश्वत, सुख या आनन्द का विधायक भी। आनन्द ही प्रसाद जी का परम ध्येय और अभीष्ट है और वही साध्य है।

आनन्दवाद—समरसता के मार्ग से जिस कोटि की आनन्दोपलब्धि का वर्णन प्रसाद जी ने कामायनी में किया है वह सगुणोपासक वैष्णव-भक्तों का आनन्द नहीं है। सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों के समान आनन्द का आलम्बन अपनी आत्मा से बाहर चराचर जगत् में स्थापित न करके अपनी अन्तरात्मा में ही आनन्द की अनुभूति करना इनका लक्ष्य है। योग-शास्त्र के ध्यान, धारणा, समाधि आदि साधनों का उपयोग भी उसमें निहित है। निर्गुण-भक्ति पद्धति में जिस प्रकार निराकार-निरंजन की उपासना द्वारा अन्तरात्मा दिव्य शक्ति के आलोक से आलोकित हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दवाद की साधना-पद्धति में भी अन्तरात्मा शाश्वत सुख और आनन्द से परिपूर्ण हो उल्लसित हो उठता है। आनन्द-प्राप्ति के लिए साधक को वराह, नरसिंहावतार आदि बाह्य आलम्बनों की अपेक्षा नहीं होती। उसका आनन्द आश्रयनिष्ठ और आभ्यन्तर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"कामायनी में प्रसाद जी ने अपने प्रिय आनन्दवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। यह आनन्दवाद वल्लभाचार्य के 'काम' या आनन्द के ढंग का न होकर तांत्रिकों और योगियों की अन्तर्भूमि-पद्धति पर है।"[१] अपने आनन्दवाद की सृष्टि प्रसाद जी ने प्रमुख रूप से शैवागमों के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर की है; किन्तु अन्य भारतीय दर्शनों और उपनिषदों से भी उपयोगी तत्त्वों का उन्होंने चयन किया है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन से कुछ तत्त्वों को ग्रहण किया और कुछ स्थलों पर इनसे स्पष्ट पार्थक्य

---

१. देखिये 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पं० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ६६६।

रखा। जगत् को ब्रह्ममय स्वीकार करने पर भी उन्होंने अद्वैतमतानुसार उसे मिथ्या या असत् नहीं माना। माया का प्रभाव भी वे अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानते—शैवागम में माया के स्थान पर शक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन है और इसे मानने पर जगत को मिथ्या मानना आवश्यक नहीं रह जाता। सांख्य या बौद्ध दर्शन की तरह वे संसार को दुःखमय भी नहीं मानते—हाँ, जगत् की प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता उन्हें स्वीकार्य है। वे इस दृश्यमान जगत् को आनन्द-मूर्ति शिव का विग्रह मानकर सत्य (सत्) स्वय आनन्दमय मानते हैं। बौद्धों के नैरात्मवाद में भी उनका विश्वास नहीं। कामायनी का दर्शन आत्मवाद की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित है। कामायनी में ज्ञान को प्रधानता न देकर श्रद्धा को प्रधानता दी गई है। शांकर मत में 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' है, तो प्रसाद मत में 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' का सन्देश है।

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि कामायनी के आनन्दवाद की सृष्टि में शैवागमों की प्रधानता है, वह सापेक्ष है। यह समझ लेना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा कि कामायनी की दार्शनिक विचारधारा सर्वतोभावेन शैव विचारधारा है। यह ठीक है कि प्रसाद जी शिव के अनन्य भक्त और आराधक थे, अतः शैव-दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करना उनके लिए सहज सम्भाव्य था किन्तु शैवागमों के साथ वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा अन्य शास्त्रों का भी वे सतत अनुशीलन करते रहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी एक शास्त्र की संकीर्ण विचार-शृंखला उन्हें बाँध न सकी। समरसता और आनन्दवाद के मूल उपकरण शैवागमों से लेकर भी वे वेदान्त और उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म और उसकी सर्वव्यापकता की उपेक्षा न कर सके। 'महाचिति' अथवा चैतन्य शक्ति का वर्णन प्रसाद जी ने शैवागम के आधार पर ही किया है। 'दर्शन' सर्ग में कवि ने कहा है:—

> "चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
> वह रूप बदलता है शत शत।
> कण विरह मिलनमय नृत्य निरत,
> उल्लास-पूर्ण आनन्द सतत॥"

चैतन्य के अतिरिक्त इस विश्व में किसी की भी सत्ता नहीं, ऐसी शैवागमों की मान्यता है। शिव की शक्ति के असंख्य रूप होने पर भी शैवदर्शन में परमेश्वर की पाँच शक्तियों का वर्णन किया गया है। कामायनी में भी शिव के पाँच

रूप संहारक, स्रष्टा, मायायोगी, मन्त्रवित् और नटराज प्रस्तुत किए गए हैं। शक्ति की दृष्टि से शिव पाँचो रूपों में सामने आते हैं—प्रकाशरूपा चित्-शक्ति, स्वातन्त्र्य-शक्ति (आनन्द-शक्ति), स्वचमत्कार (इच्छा-शक्ति), आकर्षात्मकता (ज्ञान-शक्ति) और सर्वाकार योगित्व (क्रिया-शक्ति)। कामायनी के श्रद्धा सर्ग में इस महाचिति शक्ति की महिमा का वर्णन है। महाचिति लीलामय आनन्द कर रही है; उसके नेत्र खुलने पर ही विश्व का सुन्दर उन्मीलन होता है—

"कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।"

शिव-शक्ति के सविस्तर वर्णन को पढ़कर पाठक के मन में यह भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि शैव-दर्शन है और उसके मूलाधार ग्रन्थ शैवागम हैं। इससे आगे बढ़कर पाठक यह भी सोच सकता है कि शैव सिद्धान्तों की विवृति के लिए ही प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा के इतिवृत्त को कामायनी में अवतरित किया है। किन्तु शैवागमो से कामायनी के दार्शनिक विचारों का मौलिक मतभेद जाने बिना इस प्रकार की धारणा बना लेना उचित नही। शैव-दर्शन सामाजिक दर्शन नही है, वह व्यष्टि-दर्शन है। समष्टि-विकास के सिद्धान्तो की अपेक्षा व्यष्टि-विकास पर ही उसका बल है। इसके विपरीत कामायनी का दर्शन सामाजिक दर्शन है; व्यष्टि-विकास से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता। समष्टि-मूलक-विकास भावनाओं के साथ उसका विस्तार होता है अतः उसकी परिधि अपेक्षाकृत व्यापक हो जाती है। शैव दर्शन का मूलाधार शक्ति और उसका स्वरूप-चिन्तन है। शिव-शक्ति के विविध रूपो का वर्णन करते हुए जिस गंभीर दार्शनिक पीठिका पर उसका विकास हुआ है वह साधक (व्यक्ति) के कल्याण का मार्ग है। एक व्यक्ति की साधना के पीछे समाज-कल्याण का सामूहिक भाव नही है किन्तु प्रसाद जी का जीवन-दर्शन, जो कामायनी द्वारा व्यक्त हुआ है, सामूहिक कल्याण का पोषक है। शैव-दर्शन के अनुसरण के बावजूद भी कामायनी का यह पक्ष अपेक्षाकृत मौलिक है और यही इसका मिलत्व है। कामायनी के 'कर्म' सर्ग में इस सिद्धान्त को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है—

"अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा!"
औरों को हँसते देखो, मनु हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।"

समष्टि-विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन कामायनी के 'श्रद्धा' सर्ग में भी कवि ने उपनिषदों के 'भूमा' शब्द के द्वारा बड़ी ही सुन्दर शैली से किया है। नारद और सनत्कुमार संवाद में भूमा की महिमा-वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस संसार में जो भूमा है—व्यापक और महान् सुख है—वही अमृत है 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—'नाल्पे सुखमस्ति. भूमा वै सुखम्'। व्यष्टि-सुख का तिरस्कार करती हुई समष्टि या व्यापक सुख की ओर प्रवृत्त करने वाली वृत्ति ही भूमा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यष्टिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित कर देना ही भूमा है और यही कामायनी की सामाजिकता का आधार है। श्रद्धा सर्ग के अन्तिम-पद की अन्तिम पंक्ति तो समष्टिगत सौख्य की पुकार में गूँज रही है—"समन्वय उसका करे समस्त, *विजयिनी मानवता हो जाय।" सक्षेप में, कामायनी का यह समष्टि-विकास-भाव* शैव-दर्शन के व्यष्टि-विकास से मेल नहीं खाता और प्रसाद जी के दर्शन को अपेक्षाकृत व्यापक बना देता है।

इसके अतिरिक्त कामायनी का दर्शन केवल आध्यात्मिक दर्शन ही न रहकर व्यावहारिक भी है। उसके व्यावहारिक होने का कारण है उसमें वर्तमान युग की सामाजिक भावनाओं का ग्रहण और समर्थन। आधुनिक युग की पदार्थप्रियता, जिसका दायित्व भौतिक विज्ञान पर है—कवि को इष्ट नहीं। संघर्ष सर्ग में मनु के द्वारा बड़ी ही स्पष्ट भाषा में उसने कहलाया है—

> "आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर,
> प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर, अब कैसा डर?
> बाधा जीवन की न पास में अब आने दो,
> इस हताश जीवन में क्षण सुख मिल जाने दो।"

वर्ग-संघर्ष और सामाजिक वैषम्य एवं द्वन्द्वात्मक संघर्षों का प्रभाव भी कवि के मन पर पड़ा है और अपने समन्वय तथा सामरस्य-सिद्धान्त के प्रतिपादन में उसका ध्यान इन समस्याओं की ओर गया है। वर्ग-वैषम्य ने किस प्रकार सामाजिक जीवन को कुण्ठित बनाया हुआ है और उससे किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है, यह कामायनी के 'संघर्ष' सर्ग में कवि ने बताया है। बुद्धि की विशृंखला में भी कवि सांकेतिक शैली से यह सिद्ध करना चाहता है कि केवल तर्क-प्रसूत शुष्क ऊहापोह से जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है। भौतिक विज्ञान के प्रभाव से आधुनिक युग में हम इस तथ्य

को भूल रहे हैं ग्रतः सर्वांगीण जीवन-दर्शन का निर्माण भी नहीं कर पाये हैं। सर्वांगीण विकास के लिए जिस कोटि के जीवन-दर्शन की ग्राज ग्रावश्यकता है वह भौतिक साधनों तक सीमित रहने से ही उपलब्ध नहीं हो सकता। वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों के ग्राविष्कार ने मानव का सच्चा सुख ग्रपहरण कर लिया है। ग्राज मानव जड़ मशीन-सा होकर संहार ग्रौर विनाश का साधन-मात्र रह गया है—

"प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी !
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी !"

जीवन को शान्ति ग्रौर सुख के मार्ग पर ग्रग्रसर करने के लिए यह ग्रनिवार्य है कि वर्ग-संघर्ष ग्रौर वैयक्तिक लोभ-मोह की सीमाग्रों से ऊपर उठकर हम चिति-शक्ति के ग्रखण्ड ग्रानन्द को उपलब्ध करने की चेष्टा करें। शुद्ध निर्लेप चैतन्य की शाश्वत ग्रौर ग्रखण्ड ग्रानन्द-प्राप्ति यदि चरम ध्येय है तो हमें लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में समन्वय ग्रौर समरसता को स्वीकार करना होगा। श्रद्धा के सम्पर्क से बुद्धि (इड़ा) का संस्कार करके शुद्ध चैतन्य द्वारा भावना, ज्ञान ग्रौर क्रिया में सामरस्य उत्पन्न करके ग्रखण्ड ग्रानन्द प्राप्त किया जा सकता है।

संक्षेप में, कामायनी की कथा ऐतिहासिक होने के साथ एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना की सुदृढ़ एवं शाश्वत भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। श्रद्धा-नियोजित संतुलित बुद्धि के सहयोग से मनु उस मार्ग पर चलने योग्य होते हैं, जो जीवन का चरम साध्य है। जब वह लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं तब उनका मन पूर्णरूपेण स्वस्थ, शुद्ध ग्रौर चैतन्य के ग्रालोक से पूर्ण होकर ग्रानन्दलीन हो जाता है। ताप, शाप, दुःख, दैन्य, संघर्ष ग्रौर वैषम्य की जड़ता तिरोहित हो जाती है ग्रौर ग्रानन्द की ग्रजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है—

"शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है॥
× × ×
समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती ग्रानन्द ग्रखण्ड घना था॥"

: ५ :

कामायनी में चरित्र-चित्रण

महाकाव्य का विशाल कलेवर पात्रों के चरित्र-चित्रण, घटनाओं के वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों के अंकन से निर्मित होता है। युद्ध-संघर्ष, विप्लव-क्रांति, प्रेम-विवाह, आखेट-अभियान आदि स्थूल घटनाओं का विधान तथा प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन कथावस्तु को विकसित और चमत्कृत करने के लिये किया जाता है; किन्तु यथार्थ में, कथानक का मेरुदंड तो काव्य के प्रमुख पात्र ही हैं। उन्हीं के चरित्र की गतिविधि से महाकाव्य की मूल कथा पल्लवित होकर चरमोत्कर्ष—फलागम—तक पहुँचती है। कदाचित् इसी कारण आधुनिक महाकाव्य की सफलता का मापदंड चरित्र-चित्रण का सौष्ठव माना जाता है। काव्य में पात्र ही जीवन्त—प्राणवान्—शक्ति हैं, घटना और दृश्य तो जड़ हैं, उनके वर्णन मात्र से काव्य में प्राण-संचार सम्भव नहीं।

पात्रों की अवतारणा और उनका चरित्र-विकास कवि की अपनी सृष्टि होने पर भी उसमें कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। इतिहास की पृष्ठभूमि पर आधारित काव्य को छोड़कर जब कवि किसी कल्पित कथानक का निर्माण करता है तब निश्चय ही उसे मनोनुकूल पात्रों की सृष्टि करने की छूट रहती

है। स्व-निर्मित पात्रों के चरित्र का विकास भी तब उसकी इच्छा पर निर्भर करता है। किन्तु इस स्वयम्भु सृष्टि में भी जगत् के नैसर्गिक नियमों का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। सहृदय पाठक सदैव उसी चरित्र की सराहना करेंगे जो अपने स्वभाव से विशिष्ट होने पर भी सामान्य (मानव) की कोटि में आकर पाठक की भावनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। यदि कोई पात्र अपने भीतर असम्भावित और अकल्पित शक्ति लेकर धरा-धाम पर आता है, तो उसे हम अतिमानव ही कहेंगे और उसके चरित्र को समाज का अंग नहीं मानेंगे। इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखे गये महाकाव्यों में कवि का अधिकार अपेक्षाकृत और अधिक सीमित हो जाता है। इतिहास-विदित क्रूर और नृशंस पात्र को स्निग्ध और सदय चित्रित करने वाले कवि की प्रतिभा पर न हो तो हम मुग्ध होते हैं और न हम उसे तथ्याङ्कन की त्रुटि के लिए क्षमा ही कर सकते हैं।

कामायनी इतिहास की पृष्ठभूमि पर रूपक शैली से लिखा हुआ एक ऐसा महाकाव्य है जिसमे न तो पात्रों की भीड़-भाड़ है और न घटनाओं का घटाटोप विस्तार ही। कवि को इतिवृत्त की प्राचीनता का मोह है, अतः उसकी वह रक्षा करना चाहता है; साथ ही रूपक के द्वारा अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों की स्थापना करना भी उसे अभीष्ट है। ऐसी परिस्थिति में स्थूल घटनाओं का परिहार करता हुआ वह चरित्रों के मूल में सन्निविष्ट उनकी भावनाओं को ही पकड़ने का मुख्य रूप से प्रयत्न करता है। सूक्ष्म मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष और उससे उत्पन्न हुई विचित्र मनोदशा के चित्रण में कवि ने बड़ी सतर्कता से काम लिया है; और उसी को मुख्यतः चरित्र-चित्रण का आधार बनाया है। पात्रों के माध्यम से मनस्तत्व का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है जो वैयक्तिक चरित्र की विशेषता के उद्‌घाटन के साथ वर्गगत सामान्य मानव-मनोवृत्ति का भी परिचायक है।

कामायनी को हम महाकाव्य मानते हैं, अतः उसके पात्रों में महाकाव्य के अनुरूप चारित्रिक विशेषता का होना अनिवार्य है। महाकाव्य में सामान्यतः दो कोटि के पात्र होते हैं। एक तो महान् और उदात्त चरित्र वाले पात्र, जो नायक और उसके सहयोगी की कोटि में आते हैं। दूसरी कोटि के पात्र वे हैं जो अपनी हीन मनोवृत्ति का परिचय देते हुए नायक के सत्पथ का अवरोध करने में लीन रहते हैं, प्रतिपक्षी होने के कारण काव्य में इनकी संज्ञा 'खल'

या Villain होती है। खल पात्रों की अवतारणा में कवि का उद्देश्य यथार्थ चित्रण तथा नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखाना होता है—

प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार महान् चरित्र की एक निश्चित धारणा या परिभाषा थी—उस परिभाषा को घेरकर ही पात्र महत्त्व या उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता था। नायक का सम्बन्ध उच्च वंश से होना आवश्यक समझा जाता था और युद्ध, संग्राम आखेट आदि में अपने अतुल पराक्रम का परिचय देना भी उसके अनिवार्य गुणों में था। दशरूपक में नायक की परिभाषा इस प्रकार की गई है।

> "महासत्त्वोऽति गम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
> स्थिरोनिगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रत.॥"

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने भी लगभग यही लक्षण दिया है—

> "सद्वंश. क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
> एक वंश भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥"

किन्तु आधुनिक युग में नायक या Great Character की परिभाषा में पर्याप्त अन्तर हो गया है। आज केवल युद्ध-विजय या सैन्य-संचालन ही पराक्रम और महत्त्व का द्योतक नहीं माना जाता। आज तो किसी प्रकार के महान् संघर्ष में संलग्न होना और उसमें विजय पाना ही महानता है। महान् शब्द की परिधि आज व्यापक हो गई है। महान् कार्य के भी आज विविध रूप हैं। विजय, त्याग, उत्सर्ग, आत्मबलिदान, कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा आदि भी महत्त्व के अंग हैं। विप्लव और राज्य-क्रान्ति में भाग लेकर सामान्य सिपाही या स्वयं-सेवक भी महान् हो सकता है। इसके साथ ही रचनात्मक कार्यों में तत्पर अध्यवसायी, शान्त और निरपेक्षी व्यक्ति भी महान् समझे जाते हैं। शान्ति-प्रसार में लीन व्यक्ति को कौन सदाशय और महात्मा न कहेगा? जन-कल्याण के सभी कार्य महान् होते हैं। उनके साधक भी महापुरुष माने जाते हैं। राज्य-तन्त्र में व्यवस्था तथा सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग करने वाले सामान्य मानव भी महान् हैं और उनकी प्रतिष्ठा महाकाव्य में नायक के रूप में होती है। संक्षेप में, आज नायक तथा उदात्त चरित्रों की अवतारणा के लिए प्राचीन परम्परा का निर्वाह अनिवार्य नहीं रह गया है। संघर्ष की भूमिकाएँ परिवर्तित हो गई हैं और संघर्ष-स्थल बदल चुके हैं।

अपने ही मानसिक-संघर्ष से जूझने वाले मनस्वी व्यक्ति भी महान् होते हैं और उनका चित्रण पश्चिमी देशों के साहित्य में प्रचुर परिमाण में हुआ है।

कामायनी के पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय 'महत्त्व' की व्यापक परिधि ही प्रसाद जी के सामने रही है। यद्यपि प्राचीनों की मर्यादा में मनु और श्रद्धा का चरित्र आ जाता है, किन्तु कवि ने आधुनिक विचारधारा के आधार पर ही इन दोनों के महत्त्व (Greatness) का प्रतिपादन किया है। कामायनी के पात्रों का चरित्र उनके नाटकीय पात्रों से कुछ भिन्न शैली का है। कामायनी के तीनों प्रमुख पात्र—मनु, श्रद्धा और इड़ा—बहिर्मुख की अपेक्षा अन्तर्मुख अधिक हैं और अपनी इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण ही वे स्थूल घटनाओं में अपेक्षाकृत कम उलझते हैं। उनके जीवन में बाह्य संघर्ष के साथ अन्तः संघर्ष का भी उतना ही महत्त्व है। अन्तःसंघर्ष के द्वारा वे अपना ही पथ निश्चित नहीं करते वरन् समस्त मानव-जाति के लिए कर्म-पथ का इंगित करते हैं। कामायनी के पात्र कार्य-व्यापार का निर्वाह करते हुए अपनी भावुकता, सहृदयता और कल्पना का त्याग नहीं करते। वे चिन्तन और मनन के द्वारा अतीत और अनागत का पर्यालोचन करते हैं। प्रसाद का यह अपना एक विशिष्ट गुण है कि वे अपनी पात्र-सृष्टि को चिन्तन, मनन, कल्पना और भावुकता से सर्वथा परिपूर्ण रखते हैं। अकर्मण्य, निस्तेज और जड़ पात्रों की सृष्टि वे नहीं करते। प्रसाद जी के पात्र जीवन के प्रति जिस विशिष्ट दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं वह उन्हें क्रियाशील बनाये रखने के साथ अन्तर्द्वन्द्व से भी आक्रान्त रखता है। उनका अभिप्रेत आनन्द-प्राप्ति रहता है। अतः अन्त में उनको आनन्दाभिमुख करने के लिए यह स्थिति अपरिहार्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त कामायनी के पात्रों में महाकाव्य तथा गीतिकाव्य के तत्त्वों का अद्भुत सम्मिश्रण (Marvellous combination of epical and lyrical traits) देखने में आता है। महाकाव्य की दृष्टि से जो पात्र संघर्ष-लीन और कठोर विपदाओं से जूझ रहा है, वही पात्र अपनी सहज संवेदना और ममता से द्रवीभूत होकर गीतिकाव्य की शैली से अपनी कोमल और सुकुमार भावनाओं को भी अभिव्यक्त कर रहा है। कदाचित् इसी कारण कामायनी में अप्रासंगिक रूप में भी अनेक गीत आ गये हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में भी इस शैली को स्वीकार किया है।

आदर्श और यथार्थ की आधुनिक कसौटी पर यदि हम कामायनी के चरित्रों की परख करें, तो हमें मनु और इड़ा में यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा

श्रद्धा के चित्रण में आदर्शवादी भावना का सन्तुलित पुट मिलेगा। प्रसाद ने अपने नाटकों में नारी-पात्रों का चित्रण भारतीय आदर्श के आधार पर किया है। श्रद्धा के चित्रण में प्रसाद अपने नारी-चरित्र के आदर्श की सर्वश्रेष्ठ भावना तक पहुँचे हैं। इड़ा का चित्रण आधुनिक युग की अनेकानेक विडम्बनाओं का आभास देता हुआ एक ऐसी नारी को पाठक के सामने लाता है, जो यथार्थ पर विकसित होकर नारी के दर्प, अहंकार, बौद्धिक वैभव आदि का घातक रूप व्यक्त करने में सफल है। नाटकों में जहाँ पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व या मानस-संघर्ष चित्रित हुआ है वह निर्वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। व्यक्तित्व के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध है। कामायनी में व्यक्तित्व तक ही वह सीमित नहीं—उसे मानव-सामान्य (नर-नारी) का मानस-संघर्ष कहा जाना चाहिए। नाटकों में नायक के चरित्र का विकास प्रतिपक्षी खलनायक के क्रूर कार्यों की तुलना में उदात्त दिखाकर किया गया है, कामायनी में खलनायक के अभाव में उसके लिए अवकाश ही नहीं है। मनु की अपनी भावनाएं ही उसके चरित्र के उत्थान-पतन के लिए उत्तरदायी हैं। नाटकों की भाँति कामायनी के पात्रों में भी दार्शनिकता और भावुकता का मणिकांचन संयोग देखा जा सकता है।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कामायनी में पात्रों की भीड़ नहीं है। पात्र-विरल महाकाव्य की दृष्टि से ही हमें इसके चरित्र-चित्रण पर विचार करना चाहिए। कामायनी के प्रमुख पात्र हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। इनके अतिरिक्त तीन पात्र और हैं जो अपना अस्तित्व रखते हुए भी नगण्य हैं। वे हैं—मनु-का पुत्र कुमार तथा असुर-पुरोहित आकुलि और किलात। काम और लज्जा को अशरीरी पात्र के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उनका सांकेतिक महत्त्व होने पर भी कथानक की स्थूल घटनाओं को वे प्रभावित नहीं करते। अतः चरित्र-चित्रण के प्रसंग में हम केवल तीन प्रमुख पात्रों पर ही प्रकाश डालेंगे।

मनु

कामायनी महाकाव्य में मनु का व्यक्तित्व दो रूप रखता है; एक, ऐतिहासिक और दूसरा सांकेतिक। वैदिक वाङ्मय में विख्यात वैवस्वत मनु ही कामायनी का ऐतिहासिक अस्तित्व रखने वाला मनु है। प्रसाद ने कामायनी के आमुख में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि "मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के युग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसलिए

वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।" मनु को ऐतिहासिक पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए शतपथब्राह्मण में मनु को श्रद्धादेव कहा गया है और बताया गया है कि श्रद्धा और मनु से ही मानवीय सृष्टि का सूत्रपात हुआ। शतपथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय में मनु का वर्णन इस प्रकार है—

"मनवे हवै प्रातः। अवनेग्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवने।
अनायाहरन्त्येवं तस्यावने निजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपेदे।"
—शतपथब्राह्मण; प्रथम काण्ड; अष्टम अध्याय।

प्रातःकाल मुख प्रक्षालनादि के निमित्त जल लेते हुए मनु के हाथ में मछली आ गई। उस मछली को मनु ने पकड़ लिया और उसके सहारे अपनी नौका की रक्षा की। इसी प्रकरण में आगे इड़ा का दुहिता के रूप में अवतरित होना वर्णित है। इतना प्रसंग मनु का अस्तित्व तो स्थापित कर ही देता है, इन तीनों रूपों का मिश्रित रूप ही कदाचित् कामायनी का मनु है। किन्तु मनु की किसी विशिष्ट चारित्रिक प्रवृत्ति का बोध नहीं कराता। मनु का चरित्र-विकास तो प्रसाद को स्वयं अपनी कल्पना के आधार पर ही करना पड़ा है। शतपथ-ब्राह्मण के अतिरिक्त महाभारत तथा पुराणों में भी मनु का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व में मनु का जो रूप उपलब्ध होता है वह न्याय-परायण, सशक्त राजा या शासक का है। कामायनी में भी इस रूप का कुछ आभास मिलता है। मनुस्मृति के रचयिता के रूप में मनु हमारी पुरातन परम्परा के स्मृतिकार हैं। इनका चरित्र भी नीति-परायण, विद्वान् मुनि का ही है। इन रूपों का समन्वय डा० फतहसिंह ने अपनी 'कामायनी सौन्दर्य' नामक पुस्तक में इस प्रकार किया है "मनु का पहला प्रजापति रूप है जो कामायनी में भी 'मनु-इड़ा-युग' में मिलता है। दूसरा वैदिक कर्मकाण्डी ऋषि-रूप है जो यहाँ जल-प्लावन से श्रद्धा-त्याग तक माना जा सकता है और उसके भी दो पहलू हैं—पहला, तपस्वी मनु जो 'किलाताकुलि' के आने से पूर्व मिलता है; दूसरा, हिंसक यजमान मनु का जो असुर-पुरोहितों के आगमन के पश्चात् पाया जाता है। परन्तु प्रजापति तथा ऋषि के अतिरिक्त कामायनी के मनु का एक तीसरा रूप और भी है, जो 'मनु-इड़ा-युग' के अन्त होने पर आनन्द-पथ को खोजते हुए मनु में देखा जा सकता है। यह प्रथम पथ-प्रदर्शक मनु का रूप है, इन्हीं तीनों रूपों में मनु-चरित्र का अध्ययन करना है।"

(कामायनी-सौन्दर्य, पृष्ठ १४७।)

यदि मनु को वैदिक कर्मकाण्डी ऋषि के रूप में देखा जाय, तो तपस्वी मनु का वर्णन हमें चिन्ता सर्ग के प्रारम्भ में ही मिलता है। चिन्तन, मनन और साधना के साथ अग्निहोत्र, यज्ञ आदि का विधान भी 'प्रसाद जी ने तपस्वी मनु के चरित्र में किया है। दूसरा, हिंसक- यजमान मनु का रूप यज्ञ में पशु-बलि करने वाला मिलता है। मनु का स्वच्छन्द रूप भी कामायनी के 'वासना' और 'कर्म' शीर्षक सर्गों में देखा जा सकता है। वैदिक वाङ्मय में किलात और आकुलि के पौरोहित्य में मनु का यज्ञेष्ट, पशु-बलि तथा हिंसा-प्रेम होना कहा गया है। मनु का प्रजापति रूप तो ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराण सभी में है। प्रजापति शब्द का अर्थ है प्रजा का पालन करने वाला या बनाने वाला। प्रजापति शब्द का प्रयोग इसी लिए पिता, जनक, ब्रह्मा तथा राजा आदि अर्थों में पाया जाता है। कामायनी में मनु को प्रजापति कहकर अनेक स्थलों पर सम्बोधित किया गया है। प्रसाद जी ने प्रजापति शब्द के साथ मनु का सम्बन्ध भली भाँति स्थापित रखा है। किन्तु इतना स्मरण रहे कि महाभारत आदि के वर्णित मनु से कामायनी का मनु स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रखता है। कामायनी का मनु वासना का शिकार, अनाचारी, अत्याचारी तथा दर्प और दम्भ का पुतला बनकर भी आता है। यह परिवर्तन कदाचित् आदर्श और यथार्थ का सामञ्जस्य रखने तथा युगीन समस्याओं को प्रतिबिम्बित करने के उद्देश्य से कवि ने किया है।

वैदिक वाङ्मय में मनु के जो विविध रूप आते हैं उनका किसी-न-किसी रूप में वर्णन प्रसाद ने कामायनी में भी किया है, किन्तु अपनी कथा-वस्तु को मौलिक रखने के कारण उन रूपों का प्रतिपादन अक्षरशः कवि ने नहीं किया; केवल आभासमात्र ही दिया है जिसे खोज निकालने के लिए पाठक को प्रयत्न करना होगा। ऐतिहासिक मनु का कोई एक रूप नहीं, उनका चरित्र व्यापक और विशद है। प्रसाद जी ने उसमें से अपने अनुरूप ही चयन किया है, मनु की युगव्यापी जीवन-गाथा को उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया है।

श्रीमद्भागवत पुराण में मनु को श्रद्धा का पति तथा दस पुत्रों का जनक कहा गया है। प्रसाद ने दसपुत्रों की बात को सर्वथा त्याग दिया है। श्रद्धा के एक पुत्र 'कुमार' का ही कामायनी में उल्लेख है। इड़ा को शतपथ ब्राह्मण में मनु के यज्ञाज्य से पालित कन्या बताया गया है, किन्तु कामायनी में उसे मनु की 'आत्मजा-प्रजा' कहकर कवि ने उनका परिचय कराया है। यथार्थ में, ऐतिहासिक मनु का कामायनी में महत्त्वपूर्ण स्थान दृष्टिगत नहीं होता। प्रमुखता

तो उनके सांकेतिक रूप को ही है। यथार्थ में मनु, मनोमय कोश में स्थित जीव का प्रतीक है और उसी जीव के क्रिया-व्यापार को कवि ने प्रस्फुटित किया है।

मनु के व्यक्तित्व में देव-श्रद्धा की प्रतिष्ठा प्रसाद ने प्रारम्भ में ही उसकी शरीर-सम्पत्ति का वर्णन करके तथा उसे चिन्तनशील बताकर की है—

"अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार;
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।"

किन्तु दूसरी ओर अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट और अपने अतीत पर खिन्न मनु ने जिस रूप मे अपना अस्तित्व व्यक्त किया है, वह एक पराक्रमी और शक्तिशाली व्यक्ति के अनुरूप नही है—

"आज अमरता का जीवित हूँ,
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय सा विष्कम्भ।"

मनु के चरित्र में अहंकार, व्यक्तिवाद या आत्मवाद (Individualism) का विकास कवि ने इस कोटि तक किया है कि वह अपने अहं के विस्फोट में अपनी सीमाओं को भी भूल जाता है। आत्मसुख को ही सब-कुछ समझ बैठने वाला मनु इन्द्रियासक्ति को ही जीवन का चरम सुख मानने लगता है और श्रद्धा को भी इसी सकीर्णता में बाँधना चाहता है—

"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी,
श्रद्धे ! वह भी कुछ है ?
दो दिन के इस जीवन का तो,
वही चरम सब-कुछ है।"

× × ×

"कुचल उठा आनन्द, यही है
बाधा, दूर हटाओ;
अपने ही अनुकूल सुखों को,
मिलने दो मिल जाओ।"

इसके बाद ईर्ष्या सर्ग में मनु की आभ्यन्तर भोगवृत्तियों का और अधिक स्पष्टीकरण हुआ है। मनु, श्रद्धा को अपनी मुट्ठी में बन्द करके अपनी क्रीत-दासी के समान रखना चाहता है। उसे इस बात में विश्वास नहीं कि वह विश्व-रचना के उद्देश्य से भी अपनी ममता को कहीं और वितरित करे—

"यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।
यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ? ना, यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार।"

मनु का व्यक्तिवाद ऊपर की पंक्तियों में इतना प्रबल हो उठा है कि उसे अपने अधिकारों की सीमा में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं। यह मानना होगा कि अधिकार की यह कल्पना कितनी भी मादक क्यों न हो, है तो काल्पनिक ही। जिसे हम अपना स्वत्वाधिकार समझते हैं क्या वह नैतिक दृष्टि से हमारा अधिकार कहा जा सकता है ? आत्मवादी व्यक्ति के जीवन का अभिशाप यही है कि वह अपने अहं को इस सीमा तक प्रबुद्ध कर लेता है कि उसे सांसारिक भोग-विलास की चरम परिणति में ही शरण मिलती है। ठीक यही बात मनु के चरित्र में भी घटित होती दीखती है। किलात-आकुलि के आने पर पशु-बलि करना, मदिरा-सेवन में लीन रहना, श्रद्धा जैसी स्नेहमयी सती स्त्री के प्रति वासना की भोंड़ी काम-चेष्टाएँ प्रदर्शित करना और उसके साथ अतिचार की सीमा तक आचरण कर बैठना आदि इस तथ्य के निदर्शन हैं। वासना के अतिरेक तथा मदान्ध भोग-विलास के स्थूल चित्रण 'स्वप्न' शीर्षक सर्ग में बिखरे पड़े हैं। मनु इड़ा के साथ सारस्वत प्रदेश के निर्माण में संलग्न रहते हुए भी समस्त साधनों को स्ववश करने की बात ही निरन्तर सोचते रहते हैं—स्ववश करने में वे इड़ा को भी भूलते नहीं—

"क्या सब साधन स्ववश हो चुके ? नहीं अभी मैं रिक्त रहा।
देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस-देश यहाँ।"

प्रवल उन्माद की तरलता में मनु इड़ा को अपने भुजपाश में बांध लेने का आग्रह करते हैं—अपनी उन्मत्त मन.स्थिति को वे प्रच्छन्न न रखकर मदोन्मत्त की भाषा में स्पष्ट कह उठते हैं—

> "ये सुख-साधन और रुपहली रातों की शीतल छाया,
> स्वर संचरित दिशा हैं, मन है उन्मद और शिथिल काया।
> तब तुम प्रजा बनो मत रानी, नर-पशु कर हुंकार उठा;
> उधर फैलती मदिर घटा-सी, अंधकार की घन माया।
> आलिंगन फिर भय का क्रन्दन! वसुधा जैसे कांप उठी;
> वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी।"

भोग-वृत्ति के अतिशय उच्छृङ्खल होने के कारण ही मनु को अपनी सीमा-मर्यादाओं का बोध नहीं रहा और वे अपने अहंकार तथा व्यक्तिवाद में ऐसे डूब गये कि देवत्व या मनुजत्व किसी भी रूप की रक्षा करना उनके लिए सम्भव न रहा। केवल पशुत्व ही उनके चारों ओर अपनी विकरालता में छा गया।

मनु के चरित्र में प्रारम्भ से ही चिन्ता, निराशा और पराजय-भावना को कवि ने चित्रित किया है। क्या मनु इतने निष्प्रभ, निर्वीर्य और निस्तेज व्यक्ति थे कि उन्हें चिन्ता, नैराश्य और दैन्य ही घेरे रहता था? जिस व्यक्ति के तन में पौरुष ओत-प्रोत हो रहा हो, जिसकी देह में अपार वीर्य ऊर्जस्वित होकर दमक रहा हो, जिसकी जीवन-साधना कष्ट और तितिक्षा पर विकसित हुई हो, उसे चिन्ता और पराजय-भावना से विजड़ित होना पड़े; इसका कारण क्या है? मनु की इस मन.स्थिति के तीन कारण प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत होते हैं। पहला कारण तो देवसृष्टि का ध्वंस है, जो मनु के अन्तर्मन पर प्रतिफलित होकर उसे विक्षुब्ध और चिन्तित बनाता है। देव-सृष्टि का जो रूप मनु ने देखा था, वह प्रारम्भ में शक्ति-दर्प से भरा हुआ था, बाद में वह दर्प चकनाचूर हो गया और देवगण अपने समस्त भोग-विलास के साथ विध्वस को प्राप्त हुए। इस ध्वस से मनु का कुंठा-विजड़ित, चिन्ताक्रान्त और नैराश्य-अभिभूत होना स्वाभाविक था। पराजय-भावना और दैन्य का दूसरा कारण है मनु का अति भोगवादी होकर अपने अहं की परितुष्टि में लीन रहना। अतिशय भोगवाद (व्यक्तिवाद) का परिणाम पराजय-भावना का उत्पादक होना है। तीसरा कारण मनु के इस रूप में चित्रित होने का यह है कि प्रसाद जी अन्त-

मुखी प्रवृत्ति के कवि हैं। उनकी अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की छाया ही इस चित्रण में अधिक पड़ी है। भोगवाद के प्रति प्रसाद जी के मन में एक प्रकार से सन्देह संकापूर्ण जो विद्रोह था, वही मनु के इस अनफल और अशान्त चरित्र में ध्वनित हो रहा है। विषाद की ध्वनि इस प्रकार के चित्रण में रहती है, जो कवि की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का एक व्यक्त रूप है। कवि के अन्तर्मन में घुमड़ने वाले जीवन और जगत् के प्रति अत्यधिक अप्रसन्नता ने मनु को भी अप्रसन्न और सनयालु बना दिया है।

मनु के चरित्र को भली भांति हृदयगम करने के लिए उनकी पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति पर भी विचार करना अनिवार्य है। मनु का सबसे पहले श्रद्धा से परिचय होता है। देव-सृष्टि के ध्वंस के बाद श्रद्धा ही पहली नारी है जो अवसाद, नैराश्य और चिन्ता की स्थिति से मनु का उद्धार करती है। आशा और इच्छा का सचार करने के कारण श्रद्धा के प्रति मनु का पहले आकृष्ट और बाद में आसक्त होना स्वाभाविक है। आसक्त होना मानव-स्वभाव है, इसे हम मानव की दुर्बलता नहीं कहेंगे। किन्तु यह आसक्ति क्षणिक में अनभिलषित व्यवहार से विरक्ति में परिणत हो जाय तो मानव की दुर्बलता के सिवा उसे और कुछ नहीं कहा जायगा। मनु के चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता ही यह है कि वह अपने प्रेम को स्थायित्व नहीं दे पाता। क्षण भर में रुष्ट और क्षण भर में तुष्ट होने वाला व्यक्ति न तो कभी हार्दिकता का परिचय दे सकता है और न कभी वह अविचल रूप से प्रेममार्ग में चल ही पाता है। श्रद्धा के प्रति विराग होते ही वह इड़ा के प्रति आकृष्ट होता है, आसक्त होता है, और वहाँ भी अपनी भावनाओं को तुष्ट होता न देखकर अन्त में विरक्त हो जाता है। अनुरक्ति और विरक्ति के इस क्रिया-व्यापार में मनु को सामाजिक मर्यादाओं तक का ध्यान नहीं रहता। अपने वैयक्तिक आनन्दवादी दृष्टिकोण को ही प्रमुखता देकर वह कार्य-रत रहता है। वैयक्तिक दृष्टि जीवन के सर्वाङ्गीण विकास में बाधक होती है और इसी कारण अपनी अनुचित शक्तियों के बावजूद भी वह कृतकार्य नहीं हो पाता। आनन्दवादी दृष्टिकोण में मन की जो स्थिति रहती है, वही मनु की है। मन का प्रतीक होने के कारण उनके चरित्र में इस प्रकार की दुर्बलता का चित्रण सांकेतिक दृष्टि से भी पूरी तरह घट जाता है। चंचल मन जैसे एक जगह स्थिर न रहकर इधर-उधर भटकता रहता है, वही दशा मनु की भी है।

कवि ने मनु के चरित्र में क्षमता और कार्य-शक्ति का अच्छा प्रभाव

प्रदर्शित किया है। मनु की कार्य-क्षमता से आकृष्ट होकर ही इड़ा मनु के समीप आती है। वह जानती है कि सारस्वत प्रदेश का निर्माण और उसकी शासन-व्यवस्था किसी महान् शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। यदि मनु जैसा तेजस्वी और पराक्रमी व्यक्ति इस कार्य को अपने ऊपर ले ले, तो उसका मनोरथ सहज ही में पूरा हो जाय। फलतः वह मनु को अपने प्रेम-पाश में बाँधकर सारस्वत प्रदेश का निर्माण करवाती है। मनु को भी अपनी शक्ति पर दर्प है, वह स्वयं कहता है—

"तुम्हें तृप्त कर सुख के साधन सकल बनाये।
मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाये॥"

किन्तु इस विलक्षण कार्य-शक्ति के साथ ही मनु के मन में निरंकुश अधिकार-भावना प्रबल वेग के साथ उत्पन्न होती है। इस निरंकुश अधिकार-भावना का प्रभाव इड़ा पर अच्छा नहीं पड़ता और वह मनु को सतर्क करती हुई कहती है—

"मनु, सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें,
तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न मानें।
आह प्रजापति यह न हुआ है, कभी न होगा;
निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा॥"

मनु की निरंकुश अधिकार-भावना का वर्णन कवि ने कई स्थलों पर किया है जिसका सांकेतिक अर्थ यह है कि मन के आवेग और उद्वेग के वशीभूत होकर कोई भी मानव उचित मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता। यही कारण है कि अपनी अतुलित शक्ति के रहते हुए भी मनु अन्त में यही अनुभव करता है कि इस जीवन में सच्चा सुख और शाश्वत शान्ति भौतिक उपायों से सुलभ नहीं और न भौतिक दृष्टिकोण ही जीवन-दर्शन को संतुलित बना सकता है। जीवन के यथार्थ विकास के लिए उसे भौतिकवाद का आश्रय छोड़ना ही होगा। सारस्वत प्रदेश के संघर्ष और उपद्रव के बाद मनु का मन आत्मग्लानि से भर जाता है। वह स्वयं कह उठता है—

"शापित-सा मैं जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूँ;
उसी खोखलेपन में जैसे कुछ खोजता-अटकता हूँ।
अन्ध तमस है, किन्तु प्रकृति का आकर्षण है खींच रहा;
सब पर हाँ, अपने पर भी, मैं झुँझलाता हूँ खीझ रहा॥"
—निर्वेद सर्ग।

इतना ही नहीं मनु की ग्लानि उसे पराजित मनोवृत्ति का शिकार बना देती है और वह जीवन के तथाकथित सुखों के प्रति एक उपेक्षा-दृष्टि धारण कर लेता है। उसे लगता है कि यह एक इन्द्रजाल है जिसमें मैं स्वयं ही फँस गया था। मैंने भोगवाद को अपनाकर अच्छा नहीं किया। श्रद्धा से विरक्त होकर चला आना भी मेरी भूल थी—मेरी दुर्बलता थी। अब कैसे मैं अपना मुँह श्रद्धा को दिखा सकूँगा। वह पुकार उठता है—

> "सोच रहे थे—जीवन सुख है ? ना, यह विकट पहेली है;
> भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से कितनी व्यथा न झेली है ?
> यह प्रभात की स्वर्ण किरण-सी, झिलमिल चंचल-सी छाया;
> श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे, यह मुख या कलुषित काया।"

मनु को अपने चरित्र की दुर्बलता का पता अन्त में स्वयं लग जाता है। कवि का अभिप्राय भी इस चित्रण से यही विदित होता है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण रखकर चलने पर जीवन में परम सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं। सुख की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने के उपरान्त आत्मग्लानि, कुण्ठा और पराजित मनोवृत्ति का शिकार होना पड़ता है और परिणाम में पश्चात्ताप के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता।

कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों में मनु का चरित्र एक साथ परिवर्तित होता है। एक ऐसा परिवर्तन-क्षण (टर्निङ्ग प्वाइंट) उसके जीवन में आता है जहाँ से वह पीछे का दम्भ, दर्प, अहंकार सब कुछ तिरोहित होता हुआ देखता है और उसे नूतन प्रकाश-किरण का आभास मिलता है। मनु का समस्त जीवन-दर्शन ही जैसे बदल जाता है। वह समाधि-सुख के लिए व्यग्र हो उठता है और अपने भीतर ही उसे एक ऐसा परिवर्तन प्रतीत होने लगता है कि पीछे की संघर्षमयी भौतिकवादी स्थिति उसे स्वयं घोर विनाशकारी मालूम होती है।

'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा मनु को शाश्वत सुख का रहस्य उद्घाटित करके समझाती है। जगत् यथार्थ में परिवर्तनशील है। यह जगत् का स्वरूप है जो नित्य नये-नये रूप धारण करता रहता है। इस जग को ठीक ठीक समझने के के लिए जागरूक रहकर जीवन-यापन करना चाहिए। मनु इस तथ्य को जानते हुए भी कुछ समय के लिए पूर्ण रूप से विस्मृत कर बैठे थे—

> "चेतनता का भौतिक विभाग—
> कर, जग को बाँट दिया विराग;

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
वह रूप बदलता है शत-शत,
कण विरह मिलन में नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत ।
तल्लीनपूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल 'जाग-जाग' !"

इसके आगे 'रहस्य' सर्ग में इच्छा, ज्ञान और कर्म-लोक का परिचय भी वही कराती है । वही मनु से कहती है कि ज्ञान-लोक में पहुँच कर मनुष्य के भौतिक सुखों की तृप्ति पर आश्रित नहीं रहना पड़ता ।

"यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं कर भेद बाँटती ।
बुद्धि, विभूति सकल सिकता-सी
प्यास लगी है ओस चाटती ।"

श्रद्धा के इस रहस्योद्घाटन से मनु का अन्तर्लोक सहसा प्रकाशित हो उठा । मनु श्रद्धा के साथ आनन्द में लीन हो गए । 'दिव्य अनाहत पर निनाद में, श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे ।' मनु को इस आनन्द की अनुभूति न तो अपनी अहङ्कारमयी प्रवृत्ति से होती है; और न इडा के बौद्धिक व्यापार से ही मनु किसी प्रकार के स्थायी सुख का अनुभव करते हैं । सुख और आनन्द का मार्ग अन्त में श्रद्धा द्वारा ही प्रशस्त होता है । मनु के चरित्र की दुर्बलता ही यह है कि अपने असीम बल के साथ भी वह इतना दुर्बल है कि स्थूल जगत् से परे वह देख ही नहीं सकता और इसी संसार (भौतिक ज्ञान-विज्ञान) के ऊपर टिका हुआ शाश्वत सुखानुभूति में लीन रहने की मिथ्या विडम्बना करता रहता है ।

कामायनी में चित्रित मनु-चरित्र को हम पूर्ण विकसित, महाकाव्य के अनुरूप, महत् और उदात्त कोटि का चरित्र नहीं कह सकते । प्रसाद ने मनु को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह समर्थ एवं सफल नायक की परिभाषा में पूरी तरह नहीं आता । चरम आनन्द की प्राप्ति ही इस काव्य का फलागम है जिसके लिए महाकाव्य के पात्रों को प्रयत्नशील रहना चाहिए । किन्तु मनु इस महत्कार्य के योग्य, शक्तिशाली और क्रियाशील चित्रित नहीं हुए । जैसा बड़ा कार्य है वैसा ही बड़ा प्रयत्न, सामर्थ्य और सम्भार होना चाहिए । कामायनी का अन्तिम ध्येय यही

है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मनु मानव-सभ्यता की स्थापना करें। देवगण का निर्बाध विलास सभ्यता का ही नहीं अपितु समस्त मानवता का संहारक सिद्ध हो चुका था। मनु ने स्वयं उस विनाश को देखा था। अतः अब स्थिति यह थी कि मनु, जैसे भी हो, मानव-सभ्यता की स्थापना के लिए अपनी आन्तरिक उदात्त-भावना का परिचय दें; अपने जीवन के बाह्य क्रिया-व्यापार की परिधि में वे इतनी विशालता रखें कि नूतन सभ्यता की स्थापना में उनका योग-दान व्यक्त हो सके। इसके लिए आवश्यक था कि मनु के चरित्र में अत्यधिक उदात्तता और सदाशयता (मैगनीट्यूड) तथा जीवन-व्यापी विस्तार (डाइमैनशन) की स्थापना होती। किन्तु उसका अभाव ही बना हुआ है, जो खटकता है। मनु अपने आप में भले ही शक्तिशाली, पौरुषमय और कर्मठ हों, किन्तु महाकाव्य के क्रिया-व्यापार की दृष्टि से उनका चरित्र दुर्बल है। मनु का प्रेम, त्याग, समर्पण सभी कुछ मानवीय शक्ति का शुद्ध स्वरूप लेकर नहीं होता; कामुकता और विलासिता के आवर्तन में ही वह प्रेम और उत्सर्ग की बात करता है। स्त्री के प्रति उसका दृष्टिकोण प्रारम्भ से अनुदार है, वह स्त्री को पुरुष की छाया मात्र मानकर चलता है। अपनी वासना-तृप्ति के लिए वह श्रद्धा और इड़ा दोनों के ही जीवन की सार्थकता की बात कहकर मदिरा-सेवन की प्रेरणा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि मनु के चरित्र में मानव-प्रवृत्तियों का व्यापक आभास देने की ओर प्रसाद जी का ध्यान रहा है किन्तु उसे महान् चरित्र (ग्रेट एपिक करैक्टर) बनाने की ओर उतना ध्यान वे नहीं दे पाये।

श्रद्धा

कामायनी में श्रद्धा प्रमुख पात्र है। महाकाव्य की प्रमुख घटनाएँ तथा अन्य कार्य-व्यापार श्रद्धा के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर परिचालित होते हैं। फल-निष्पत्ति की दृष्टि से भी यदि कामायनी के उद्देश्य पर विचार किया जाय तो सामरस्य के मार्ग से शाश्वत आनन्दोपलब्धि भी श्रद्धा के पथ-निर्देश और प्रयत्न से ही साध्य है। भारतीय नारी के सम्बन्ध में प्रसाद जी की एक विशेष प्रकार की उदात्त कल्पना थी। अपने हृदय में समस्त स्नेह, मार्दव, ममत्व, कारुण्य, विश्वास, वात्सल्य आदि को एकत्र करके कवि ने श्रद्धा के चित्रण में उसका प्रयोग किया है। यही कारण है कि श्रद्धा का चरित्र नारी-जीवन का आदर्श उपस्थित करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ है। नारी

के प्रति कवि के मन में जो सहज श्रद्धा और आदर का भाव है उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम इस काव्य में श्रद्धा ही है। श्रद्धा का रूप-चित्रण, स्वभाव-वर्णन, भावाङ्कन कवि ने ऐसे उच्च धरातल पर किया है कि वह लौकिक होते हुए भी दिव्य नारी का आभास देने की पूर्ण क्षमता रखता है। श्रद्धा एक ऐसी नारी है जो बाह्य संसार के असत् और क्षणिक कार्यकलाप में लीन न होकर अन्तर्जगत् की सात्विक भावनाओं को अधिक महत्त्व देती है। छल, प्रतारणा और मिथ्याचरण से दूर रहकर विश्वास, प्रेम और सत् के प्रति वह अधिक सजग है; जीवन की अन्त स्थिति के प्रति विशेष आस्थावान है। एक आदर्श नारी की जो मोहक कल्पना प्रसाद के अन्तर्मन में व्याप्त थी, मानो श्रद्धा के चित्रण में वही मूर्तिमती हुई हो।

मनु की भाँति श्रद्धा का भी ऐतिहासिक अस्तित्व है। उसके ऐतिहासिक महत्त्व की स्थापना के लिए प्रसाद ने कामायनी के आमुख में वैदिक वाङ्मय से कुछ संकेत उपस्थित किये हैं। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् तथा भागवत-पुराण आदि में श्रद्धा का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। श्रद्धा को ऋग्वेद में ऋषि और देवता कहा गया है। श्रद्धा के अस्तित्त्व पर ही यज्ञादि में हविष्य का विधान बताया गया है। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल को हम श्रद्धानिष्ठ होकर ही उपासना कर सकते हैं। श्रद्धा को कार्य-साधिका तथा फलदायी बताया गया है। ऋग्वेद में आता है—

'ऋषि श्रद्धा कामायनी। देवता श्रद्धा। श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः। श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि

—ऋग्वेद १०–१५१–१।

'प्रियं श्रद्धे ददतः, प्रियं श्रद्धे दिदासतः, प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि।

'श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।

ऋग्वेद में श्रद्धा सूक्त है, जिसमें श्रद्धा का विस्तृत वर्णन है। भाष्यकार सायण ने श्रद्धा को काम गोत्र की बालिका कहा है—'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका' इसीलिए उसे कामायनी भी कहते हैं। उसी नाम के आधार पर काव्य का नाम भी कामायनी रखा गया है। श्रद्धा और मनु का पारस्परिक क्या सम्बन्ध था और वैदिक साहित्य में दोनों की स्थिति क्या थी, इसका निर्णय करना

कठिन है। प्रसाद ने भी इसका अन्तिम निर्णय करने का प्रयत्न नहीं किया। अपने काव्य के कथानक को गति देने के लिए उन्होंने यथाभिलषित सम्बन्ध की स्थापना कर ली और उसी का निर्वाह किया है। यों तो तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वह काम की माता है—'श्रद्धा कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि—' और उसके पिता का नाम सूर्य है—'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता'। शतपथ में 'श्रद्धादेवो वै मनुः' कहा गया है। भागवत्पुराण में भी मनु की पत्नी के रूप में श्रद्धा का आख्यान आता है :

> "ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
> श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान् ॥"

कामायनी में प्रसाद ने मनु और श्रद्धा के बीच दाम्पत्य-सम्बन्ध की स्थापना इन्हीं प्रमाणों के आधार पर की है। उपर्युक्त संकेतों के आधार पर श्रद्धा के ऐतिहासिक अस्तित्व से इन्कार करना सर्वथा असम्भव है, किन्तु देखना यह है कि काव्य में श्रद्धा का चरित्र क्या केवल इतिवृत्त की स्थूल पृष्ठभूमि पर ही कवि ने अङ्कित किया है या उसे अपनी कल्पना से रंजित करके संवेदनमय और सप्राण बनाया है।

कामायनी में श्रद्धा का चित्रण कवि ने अधिकांशतः अपनी कल्पना के आधार पर किया है। मनु और श्रद्धा के पारस्परिक सम्बन्ध और उनका काव्य में स्थान प्रदर्शित करते हुए बड़ी काव्यमयी शैली में वासना सर्ग के प्रारम्भ में लिखा है—

> "एक गृहपति, दूसरा था अतिथि विगत विकार,
> प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।"

इसके साथ ही श्रद्धा की शारीरिक सम्पत्ति का चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि ने आलंकारिक भाषा में जो लिखा है वह श्रद्धा के बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप को बड़ी ही आकर्षक झाँकी उपस्थित करता है :

> "हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,
>   एक लम्बी काया उन्मुक्त,
> मधुपवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल,
>   सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
> नील परिधान बीच सुकुमार,
>   खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,

के प्रति कवि के मन में जो सहज श्रद्धा और आदर का भाव है उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम इस काव्य में श्रद्धा ही है। श्रद्धा का रूप-चित्रण, स्वभाव-वर्णन, भावाङ्कन कवि ने ऐसे उच्च धरातल पर किया है कि वह लौकिक होते हुए भी दिव्य नारी का आभास देने की पूर्ण क्षमता रखता है। श्रद्धा एक ऐसी नारी है जो बाह्य संसार के असत् और क्षणिक कार्यकलाप में लीन न होकर अन्तर्जगत् की सात्विक भावनाओं को अधिक महत्व देती है। छल, प्रतारणा और मिथ्याचरण से दूर रहकर विश्वास, प्रेम और सत् के प्रति वह अधिक सजग है; जीवन की अन्तःस्थिति के प्रति विशेष आस्थावान है। एक आदर्श नारी की जो मोहक कल्पना प्रसाद के अन्तर्मन में व्याप्त थी, मानो श्रद्धा के चित्रण में वही मूर्तिमती हुई हो।

मनु की भाँति श्रद्धा का भी ऐतिहासिक अस्तित्व है। उसके ऐतिहासिक महत्त्व की स्थापना के लिए प्रसाद ने कामायनी के आमुख में वैदिक वाङ्मय से कुछ संकेत उपस्थित किये हैं। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् तथा भागवत-पुराण आदि में श्रद्धा का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। श्रद्धा को ऋग्वेद में ऋषि और देवता कहा गया है। श्रद्धा के अस्तित्व पर ही यज्ञादि में हविष्य का विधान बताया गया है। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायकाल को हम श्रद्धानिष्ठ होकर ही उपासना कर सकते हैं। श्रद्धा को कार्य-साधिका तथा फलदात्री बताया गया है। ऋग्वेद में आता है—

'ऋषि श्रद्धा कामायनी। देवता श्रद्धा। श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः। श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि

—ऋग्वेद १०–१५१–१।

'प्रियं श्रद्धे ददत., प्रियं श्रद्धे ददतः, प्रियं श्रद्धे दिदासतः, प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि।

'श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेहनः।

ऋग्वेद में श्रद्धा सूक्त है, जिसमें श्रद्धा का विस्तृत वर्णन है। भाष्यकार सायण ने श्रद्धा को काम गोत्र की बालिका कहा है—'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका' इसीलिए उसे कामायनी भी कहते हैं। उसी नाम के आधार पर काव्य का नाम भी कामायनी रखा गया है। श्रद्धा और मनु का पारस्परिक क्या सम्बन्ध था और वैदिक साहित्य में दोनों की स्थिति क्या थी, इसका निर्णय करना

कठिन है। प्रसाद ने भी इसका अन्तिम निर्णय करने का प्रयत्न नहीं किया। अपने काव्य के कथानक को गति देने के लिए उन्होंने यथाभिलषित सम्बन्ध की स्थापना कर ली और उसी का निर्वाह किया है। यों तो तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वह काम की माता है—'श्रद्धा कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि—' और उनके पिता का नाम सूर्य है—'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता'। शतपथ में 'श्रद्धादेवो वै मनुः' कहा गया है। भागवतपुराण में भी मनु की पत्नी के रूप में श्रद्धा का आख्यान आता है :

"ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्॥"

कामायनी में प्रसाद ने मनु और श्रद्धा के बीच दाम्पत्य-सम्बन्ध की स्थापना इन्हीं प्रमाणों के आधार पर की है। उपर्युक्त संकेतों के आधार पर श्रद्धा के ऐतिहासिक अस्तित्व से इन्कार करना सर्वथा असम्भव है, किन्तु देखना यह है कि काव्य में श्रद्धा का चरित्र क्या केवल इतिवृत्त की स्थूल पृष्ठभूमि पर ही कवि ने अङ्कित किया है या उसे अपनी कल्पना से रंजित करके संवेदनमय और सप्राण बनाया है।

कामायनी में श्रद्धा का चित्रण कवि ने अधिकांशतः अपनी कल्पना के आधार पर किया है। मनु और श्रद्धा के पारस्परिक सम्बन्ध और उनका काव्य में स्थान प्रदर्शित करते हुए बड़ी काव्यमयी शैली में वासना सर्ग के प्रारम्भ में लिखा है—

"एक गृहपति, दूसरा था अतिथि विगत विकार,
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।"

इसके साथ ही श्रद्धा की शारीरिक सम्पत्ति का चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि ने आलंकारिक भाषा में जो लिखा है वह श्रद्धा के बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप की बड़ी ही आकर्षक झाँकी उपस्थित करता है :

"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,
एक लम्बी काया उन्मुक्त,
मधुपवन क्रीड़ित ज्यों शिशुसाल,
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,

खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघवन बीच गुलाबी रंग।
नित्य यौवन छवि से ही दीप्त,
विश्व की करुण कामना मूर्ति,
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण,
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।"

कवि ने श्रद्धा से आत्म-परिचय में जो कथन कराया है वह इतना स्पष्ट और संवेद्य है कि श्रद्धा की सांस्कृतिक अभिरुचि और कलापूर्ण जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए उससे अच्छी उक्ति सम्भव नहीं। श्रद्धा कहती है—

"भरा था मन में नव उत्साह,
सीख लूँ ललित-कला का ज्ञान,
इधर रह गन्धर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी सन्तान।"

इसके बाद श्रद्धा ही मनु को जीवन और जगत् का रहस्य बताती हुई कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देती है। नैराश्य, कुंठा और चिन्ता से विजड़ित मनु को 'काम' की अनिवार्यता समझाने वाली मानवी श्रद्धा ही है। श्रद्धा ही महाचिति के लीलामय आनन्द का मर्म बताती है और वही संसृति के निर्माण में काम की उपादेयता सिद्ध करती है। मनु को प्रबुद्ध करती हुई श्रद्धा कहती है—

"जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल।
काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल भव धाम।"

मनु के एकाकीपन को दूर करने और उसे कर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रद्धा कोरा उपदेश ही नहीं देती वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करके उसकी

साधना में सहायक बनती है। मनु को अपने बोझ से हल्का बनाती हुई वह उसकी सहचरी बनने का प्रस्ताव कर देती है। यह प्रस्ताव अपने साथ जो भाव-सामग्री लेकर आता है वह इतनी प्रचुर और पर्याप्त है कि मनु को उसके आगे नतशिर होना पड़ता है। मनु श्रद्धा को अपने समीप लाकर उसकी मानसिक तृप्ति के अनुरूप भाव-सामग्री नहीं देते, किन्तु श्रद्धा अपनी ओर से अपना सब-कुछ समर्पित करने में कुछ भी उठा नहीं रखती। यह जानते हुए भी कि नारी अपने समर्पण के बाद एक ऐसे चिर-बन्धन में आबद्ध हो जाती है कि जिसमें त्राण पाना उसके लिए सहज नहीं, वह उन्मुक्त भाव से अपना जीवन उत्सर्ग करने में तत्पर रहती है।

> किन्तु बोली—"क्या समर्पण आज का हे देव !
> बनेगा चिर-बन्ध नारी हृदय हेतु सदैव ?
> आह मैं दुर्बल कहो क्या ले सकूँगी दान ?
> वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्राण ?"

श्रद्धा के चरित्र-चित्रण में प्रसाद ने नारी के अबलात्व का भी अच्छा आभास दिया है। रूप-सौंदर्य का सामर्थ्य भी 'अबला' नारी को इतना बल नहीं देता कि वह पुरुष से स्पर्द्धा करके विजय प्राप्त कर सके।

> "यह आज समझ तो पाई हूँ,
> मैं दुर्बलता में नारी हूँ;
> अवयव की सुन्दर कोमलता
> लेकर मैं सबसे हारी हूँ।"

श्रद्धा का चरित्र नारी-जाति के सर्वाङ्गपूर्ण विकास की स्थिति तक पहुँचकर अनवद्य नारी का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है। लज्जा सर्ग में भाव की अभिव्यक्ति करते हुए नारी 'श्रद्धा) का जो उद्देश्य वर्णित हुआ है वह काव्य की दृष्टि से ही नहीं आदर्श और आस्था की दृष्टि से भी उदात्त और महान् है।

> "नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
> विश्वास रजत नग पग तल में,
> पीयूष स्रोत-सी बहा करो
> जीवन के सुन्दर समतल में।"

पुरुष अपनी स्वार्थ-सीमाओं में रहकर आत्मतुष्टि को ही प्रधानता देने लगता है। सुख को सीमित करके वह अपने को ही आनन्दित देखना चाहता है। मनु की इस प्रकार की मनोदशा 'वासना' और 'कर्म' सर्ग में चित्रित हुई है। व्यक्तिनिष्ठ सुख को समष्टि सुख में पर्यवसित करने की प्रेरणा श्रद्धा के द्वारा ही मनु को प्राप्त होती है। यद्यपि वह अपने दम्भ और अहंकार के कारण उसको चरितार्थ नहीं करता, किन्तु श्रद्धा साहस और विवेकपूर्वक उसे सत्पथ की ओर ले जाने का सक्रिय प्रयत्न करती है। श्रद्धा मनु से कहती है—

> "अपने में भर सब कुछ कैसे,
> व्यक्ति विकास करेगा ?
> यह एकान्त स्वार्थ भीषण है।
> अपना नाश करेगा।
> औरों को हँसते देखो मनु,
> हँसो और सुख पाओ,
> अपने सुख को विस्तृत कर लो,
> सब को सुखी बनाओ।"

कवि ने श्रद्धा का चित्रण सर्वाङ्गपूर्ण नारी के रूप में किया है अतः सहज नारी-रूप के साथ उसके सौन्दर्य और आकर्षण का चित्रित करना भी स्वाभाविक था। दाम्पत्य जीवन में नारी का पत्नीत्व या गृहिणीत्व उसके स्वभावज गुणों के विकास से परिपूर्णता को प्राप्त होता है। यथार्थ में घर (गृह) की कल्पना का सूक्ष्म आधार गृहिणी ही है—'न गृहं गृहमित्याहु गृहिणी गृहमुच्यते—'। इस कसौटी पर यदि श्रद्धा के चरित्र की परख करें तो उसे हम भारतीय नारी के आदर्शपूर्ण उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित देखते हैं। पति-प्रेम और पुत्र-वात्सल्य को पग-पग पर प्रकट करने वाली श्रद्धा के प्रति पाठक के मन में श्रद्धा-भाव का होना स्वाभाविक है। मनु के ईर्ष्यालु होने और श्रद्धा के प्रति विरक्त हो जाने पर भी वह अपने गृहस्थ धर्म को सब तरह से परिपूर्ण बनाने में लीन है।

> "चुप थे, पर श्रद्धा ही बोली,
> 'देखो यह तो बन गया नीड़;
> पर इसमें कलरव करने को
> आकुल न हो रही अभी भीड़।"

वात्सल्य की मूर्ति श्रद्धा का चित्र 'स्वप्न' शीर्षक सर्ग में पठनीय है:—

'माँ—फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया सूनी;
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाँहें आकर लिपट गईं।
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।"

नारी-चरित्र की तीसरी विशेषता है उसका विश्व-कल्याणी होना। नारी अपने मातृत्व के साथ एक ऐसी विलक्षण क्षमता लेकर आती है कि अपने परिवार के सीमित दायरे से बाहर भी वह अखिल विश्व का कल्याण करने में प्रवृत्त होती है। कामायनी में श्रद्धा के चरित्र द्वारा नारी की अद्भुत क्षमता का चित्रण किया गया है। विश्व-कल्याण की कामना रखने के कारण ही पशुबलि और मृगया-परायण मनु को फटकारती हुए श्रद्धा कहती है—

"ये प्राणी जो बचे हुए हैं,
इस अचला धरती के।
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही हैं फीके ?
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी,
उज्ज्वल नव मानवता;
जिसमें सब कुछ ले लेना हो,
हंत ! बची क्या शवता।"

श्रद्धा की इस विश्व-कल्याण भावना का विकास इस कोटि तक हुआ कि स्वयं मनु भी उसे साधारण रमणी रूप में न देखकर सर्वमंगला मातृ-रूप में देखते हैं—

'बोले रमणी तुम नहीं आह
जिसके मन में हो भरी चाह'

और आगे कहते हैं—

'तुम देवि आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार।
हे सर्वमंगले तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती।'

कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में ही रहती।
मैं भूला हूँ तुमको निहार,
नारी सा ही ! वह लघु विचार।"

यथार्थ में श्रद्धा निश्छल प्रेम, निःस्वार्थ त्याग, ध्रुव विश्वास, सहज कारुण्य और अपरिसीम तितिक्षा की प्रतिमा है। वही मनु जैसे पथभ्रष्ट पति को अपने धैर्य और दृढ़ता से आनन्द-मार्ग पर ले जाती है और वही मनु को सच्चा जीवन-सम्बल बनकर केवल अर्द्धांगिनी नहीं वरन् 'गृहिणी, सचिवः सखी' आदि सभी का प्रतिनिधित्व करती है। इड़ा के साथ भी श्रद्धा का व्यवहार आदर्श है। वह सौतिया डाह से जलकर न तो अपना आपा खोती है और न इड़ा को ही अपने मन में किसी प्रकार के गलत भाव-विचार को प्रश्रय देने का अवकाश देती है। हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य को खोजने वाली श्रद्धा सभी क्षेत्रों और सभी रूपों में आदर्श बनी रहती है। पारलौकिक दृष्टि से भी श्रद्धा का दृष्टिकोण बहुत ही दार्शनिक, बौद्धिक और तर्क-सम्मत है। वह जगत् का रहस्य और इसके निर्माण में स्रष्टा का प्रयोजन शुद्ध दार्शनिक के रूप में देखती है और इड़ा तथा मनु को इस रहस्य का बोध कराती है—

"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
वह रूप बदलता है शत-शत;
कण विरह मिलन में नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।"

संक्षेप में, श्रद्धा का चरित्र नारी-जीवन की सर्वाङ्गपूर्ण झाँकी देने वाला एक आदर्श चरित्र है। कामायनी के अप्रस्तुत रूपक-पक्ष में, हृदय का सच्चा प्रतिनिधित्व करने की उसमें पूर्ण क्षमता है। विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति-रूप श्रद्धा का जैसा विकास कामायनी में हुआ है प्रसाद के किसी अन्य नारी-चरित्र में नहीं हुआ। 'श्रद्धाहृदय्य याकूत्या, श्रद्धया विन्दते वसु' का सात्विक दृष्टि से जो अर्थ होता है, वही श्रद्धा का चरित्र है और काव्य में इसी कारण उसका सर्वाधिक प्रभाव है। घटनाओं का घात-प्रतिघात क्षीण होने पर भी श्रद्धा के चरित्र द्वारा हम आदिम नारी का रूप हृदयगम कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमती महादेवी वर्मा की पंक्तियाँ उद्धृत करना हम आवश्यक समझते हैं—

"मनु के उद्दाम मन्तर्द्वन्द्व, श्रद्धा के प्रशान्त निष्कम्प आत्म-विश्वास के दो तटों के बीच से पथ बनाते हुए कथा-प्रवाह में रंगों के इतने आवर्त और रूपों की इतनी तरंगें उठती रहती हैं कि हमें परिचित घटनाओं के अभाव का बोध नहीं रहता।

हमारे सामने जो क्षितिज है वह किसी लोक-विश्रुत या अलौकिक चरित्र की दिग्विजय-यात्रा नहीं चित्रित करता, प्रत्युत् उसके सब हल्के गहरे रंग, सारी लघु-दीर्घ रेखायें दो व्यक्तियों को स्पष्ट करती हैं। और वह दो व्यक्ति हैं—आदिम पुरुष और आदिम नारी। अतः उनमें अलौकिकता से अधिक उन प्रवृत्तियों का महत्व है जिनसे लोक का निर्माण सम्भव हो सका। इस दृष्टि से उनकी ये चारित्रिक विशेषतायें आज भी हमारी हैं।"[1]

इड़ा

मनु और श्रद्धा के समान इड़ा का व्यक्तित्व भी दुहरा है। रूपक-शैली में सांकेतिक अर्थ का द्योतन करती हुई वह बुद्धि तत्त्व की प्रतीक है। कामायनी के आमुख में प्रसाद जी ने उसके ऐतिहासिक अस्तित्व का परिचय देने के लिए शतपथ ब्राह्मण, ऋग्वेद तथा अमरकोष के जो संकेत दिये हैं उनका उपयोग इड़ा के चरित्र-विकास में उन्होंने नहीं किया। वे संकेत केवल इड़ा के अस्तित्व का इतिहास से सम्बन्ध मात्र जोड़ते हैं, इसके सिवा उनकी और कोई उपयोगिता नहीं। शतपथ ब्राह्मण में इड़ा को मनु के यज्ञांश से बनी दुहिता कहा गया है किन्तु कामायनी में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। सांकेतिक अर्थ में जहाँ इड़ा को बुद्धिवाद का प्रतीक बताया गया है उसका वैदिक आधार यह हो सकता है कि ऋग्वेद में इड़ा का सरस्वती आदि के समान ही बुद्धि को साधने वाली अथवा चेतना देने वाली कहा गया है। 'सरस्वती साधयन्तीधियं न इड़ा देवी, भारती विश्वमूर्ति।' पुरुरवा और उर्वशी की कथा के साथ प्रथम आयु विराति तथा मनुष्य की मार्गदर्शी इड़ा को जोड़ा मानकर भी कुछ विद्वानों ने कथा की मूल वैदिक साहित्य की परम्परा में दिखाई है। (देखिये—कामायनी-सौन्दर्य पृष्ठ १२—११६०।) ऋग्वेद में इड़ा सूक्त का उल्लेख करके भी इसके ऐतिहासिक स्वरूप का विवेचन होता है किन्तु प्रसाद ने इन समस्त रूपों को अपने अन्तर्मन की पृष्ठभूमि में रखकर सर्वथा नवीन रूप से इड़ा का चरित्र चित्रित किया है।

1. देखिये—कामायनी : एक परिचय; पृष्ठ १२-१३

कामायनी के कथानक में इडा का स्थान एक स्वार्थपरायण, बुद्धिवादी व्यवहार-कुशल नारी का है जो अपने रूप के मोहक आकर्षण का जाल बिछाकर मनु को उसमें फँसाती है। कवि ने श्रद्धा और इडा के व्यक्तित्व के वैषम्य और वैधर्म्य का चित्रण करके दोनों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व एवं उपादेयता को बड़ी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर अंकित किया है। इडा के सांकेतिक रूप को स्पष्ट करने के लिए कवि ने इड़ा सर्ग में उसका आलंकारिक शैली से जो साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है वह इस प्रकार है—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल"
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल।
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा जीवन-रस सार लिये।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये।
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल।।
चरणों में थी गति-भरी ताल।"

नख-शिख का आभास देने वाली उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने इडा के बाह्य शरीर की सुषमा चित्रित करते हुए उसकी आभ्यन्तर गतिविधि का भी अच्छा परिचय दे दिया है। अलकों की तर्कजाल से उपमा देने में कवि का प्रयोजन स्पष्ट है, तर्क वितर्क को बौद्धिक स्वरूप की प्रतिष्ठा करने की आधारशिला समझना चाहिए। नेत्रों में अनुराग-विराग, वक्षस्थल में ज्ञान-विज्ञान, हाथ में कर्म-कलश, त्रिगुण तरंगमयी त्रिवली आदि सभी उपमायें इड़ा के व्यक्तित्व-विधायक तत्वों की ओर संकेत करती हैं।

आगे चलकर प्रसाद ने इड़ा को एक स्थल पर 'प्रतिभा प्रसन्न मुख' कहा है। उसका तात्पर्य भी यही है कि बौद्धिक-प्रतिभा ही इड़ा की सम्पत्ति है। उसी के सहारे वह प्रफुल्लित रहती हुई जीवनयापन करती है। बुद्धि के आश्रित कर्म-व्यापार में लीन इड़ा हृदय की स्निग्ध एवं सरस विभूतियों से विहीन व्यवसायात्मिका तर्कमयी प्रज्ञा द्वारा अनुशासित है। जीवन की अखंडता के स्थान पर वह वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद की सृष्टि करने में लीन रहती है—

"यह अभिनव मानव प्रजा-सृष्टि ।
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि,
अनजान समस्यायें गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि ।
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद,
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद ।
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता,
पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता ।
सब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि ।
दुःख देगी यह संकुचित दृष्टि ।"

ऊपर की पंक्तियों में (इड़ा) व्यवसायात्मिका बुद्धि का कृतित्व भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है । द्वयता में लीन रहकर नाना वर्गों और वर्णों की सृष्टि करना बुद्धि का पहला काम है । उसके बाद वर्ग-संघर्ष का तुमुल कोलाहल उत्पन्न करके विविध कोटि की समस्याएँ खड़ी कर देना और उसमें मानव को उलझा देना बुद्धि का दूसरा काम है । परिणाम यह होता है कि शाश्वत सुख-शान्ति जो मानव की अभिलषित वस्तु है उससे दूर बनी रहती है और उसे अनिच्छित दुःख झेलने पड़ते हैं । समवेदना, सहानुभूति और पारस्परिकता की भावना नष्ट हो जाती है और मानव-समाज गिरता-पड़ता चलता है । इड़ा का अस्तित्व इसी बुद्धिवाद का प्रतीक है और यही इसकी सांकेतिक स्थिति है ।

ऐतिहासिक कथानक की दृष्टि से इड़ा सारस्वत प्रदेश की रानी है । देवताओं की स्वसा (बहन) के रूप में भी उसका वर्णन है । इड़ा का वर्णन शतपथ-ब्राह्मण में है और उसमें कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक-यज्ञ से हुई । उस पूर्ण योषिता को देखकर मनु ने विस्मय-विमुग्ध हो प्रश्न किया, 'तुम कौन हो ?' इड़ा ने सहज भाव से उत्तर दिया, 'तुम्हारी दुहिता ।' मनु बोला, 'दुहिता कैसे ?' इड़ा बोली, 'तुम्हारे यज्ञ की हवियों से मेरा पोषण हुआ है ।' इस प्रसंग को इतिवृत्त का क्षीण तन्तु ही कहा जा सकता है, सम्पूर्ण इतिहास नहीं । किन्तु इड़ा के प्रति मनु के मन के आकर्षण का इसी प्रसंग में आगे चलकर उल्लेख किया गया है ऋग्वेद में इड़ा को बुद्धि और वाणी का पर्यायवाची कहा है और मानवजाति की नियामिका या शासनकर्त्री भी बताया है ।

कामायनी में इडा को एक व्यक्तिवादी स्त्री के रूप में अङ्कित किया गया है। उसका अहं प्रबुद्ध है, वह अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रखती हुई समाज के साथ सम्पर्क स्थापित करती है। प्रथम परिचय में जब मनु ने इडा की करुण भावना को उद्बुद्ध करने की इच्छा से कहा कि—

"मनु मेरा नाम सुनो, मैं विश्वपथिक सह रहा क्लेश।"

तब भावना-विहीन पर विचार-वितर्क-प्रवीण इडा को मनु के क्लेश के प्रति समवेदना उत्पन्न नहीं हुई, प्रत्युत उन्हीं क्षणों में उसे अपने सारस्वत प्रदेश का स्मरण हो आया और उसके निर्माण की बात वह सोचती रही और बड़े व्यावसायिक (मैटर आव फैक्ट) स्वर में बोली—

"स्वागत पर देख रहे हो तुम, उजड़ा यह सारस्वत प्रदेश।"

यथार्थ में इडा का साध्य है सारस्वत नगर का निर्माण और इसके लिए वह मनु को एक इन्जीनियर—शिल्पी के समान साधन बनाती है। इस दृष्टि से वह मनु के लिए प्रबल प्रेरणामयी है। वह मनु को कर्म करने की प्रेरणा देती है, किन्तु इस कर्मप्रेरणा का फल मनु को स्वयं कुछ न मिलकर इड़ा को प्राप्त होता है। अपने हितसाधन के लिए मनु को नियुक्त करने की बौद्धिकता में ही उसकी सफलता है। अपनी कार्य-सिद्धि के लिए मनु पर विजय प्राप्त करने के निमित्त उसके पास दो गुण हैं। शारीरिक रूप-सौंदर्य को निखारकर मनु के सामने वह इस ढग से रखती है कि उसका अचूक प्रभाव मनु पर पड़ता है और वे नारी-सौंदर्य के पाश में आबद्ध हो जाते हैं। दूसरा उसका गुण है बुद्धि-प्रकर्ष। मनु की आस्तिक भावना और नियति-विश्वास को उन्मूलित करने में वह अपने तर्क-वितर्क का प्रयोग करती है। ईश्वर को निष्ठुर और नैराश्यपूर्ण सृष्टि का अधिपति आदि कहकर मनु के ईश्वर-विश्वास को हिला देना उसका साध्य है। वह नहीं चाहती की जब तक मनु उसके कार्य में लीन रहे तब तक किसी अन्य भाव या विचार को अपने मन में स्थान दें। ईश्वर के प्रति अनास्था-बुद्धि पैदा करती और अपनी शक्ति पर विश्वास करने का हौंसला जगाती हुई वह कहती है—

"मत कर पुकार निज पैरों चल।"

मनु भी इड़ा के इस प्रबल बुद्धिवाद से अभिभूत हो गये और कह उठे—

"हाँ, तुम्ही हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी यह शरण जाय।"

इन पंक्तियों में मनु पर इड़ा का प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है। हम देखते हैं कि अपने प्रखर बुद्धिबल से वह सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति को बाह्य रूप से आकृष्ट करने में पूर्ण रूप से समर्थ है, किन्तु उसका सम्पर्क अन्तर्मन को परितृप्त करने की क्षमता नहीं रखता। वस्तुतः इड़ा एकान्त बौद्धिक चरित्र (इन्टलैक्चुअल करैक्टर) है; वह मनु का उपयोग भी भौतिक दृष्टि से (ग्राबजैक्टिवली) करती है परन्तु मानसिक सुख-शान्ति प्रदान करने की शक्ति उसमें नहीं। राग-द्वेष के वृत्त से वह अपने को बड़ी सतर्कता से बाहर रखती है। रागात्मक भावनाओं का स्पन्दन स्त्री-पुरुषों में सहज स्वाभाविक है, परन्तु फिर भी वह 'यौवन के मधुमय स्रोत से आप्लावित' मनु की ओर वासना-बुद्धि से आकृष्ट नहीं होती, यही उसकी राग-निरपेक्षता है, अथवा यों कहा जा सकता है कि वह अपने अन्तर के राग-द्वेष पर बौद्धिकता (रेशनलिज्म) द्वारा विजय प्राप्त कर लेती है।

मनु के प्रति उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण होते हुए भी प्रजा के प्रति उसकी कर्त्तव्यपरायणता का निषेध नहीं किया जा सकता। मनु के प्रति आकृष्ट न होने का एक कारण यह भी है कि वह लोकधर्म तथा लोकमर्यादा के प्रति पूर्णतः सजग है। यही कारण है कि मनु के द्वारा आलिङ्गन-पाश में बद्ध होने पर भी वह वचन-संयम और अविग धैर्य का परिचय देते हुए मनु से कहती है—

'ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें,
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि इस छाया में,
प्राण सदृश हो रमो राष्ट्र की इस काया में।"

इड़ा के चरित्र में बाद में कुछ परिवर्तन आता है। प्रारम्भ में वह अत्यधिक शक्तिशाली, गतिशील (Dynamic) है—पर्वत के उत्तुङ्ग शिखर से गिरने वाले झरने के समान प्रबल, तीव्र और कलकलनादयुक्त। बाद में वह समतल भूमि पर बहने वाली स्रोतस्विनी के समान शान्त-स्निग्ध हो जाती है। बुद्धि-वाद का प्रभाव न्यून होकर हार्दिकता की मात्रा अधिक हो जाती है। इस परिवर्तन के दो कारण सम्भव हैं। प्रथम कारण यह हो सकता है कि श्रद्धा के उदात्त, ममत्वपूर्ण एवं संवेदनशील चरित्र ने उस पर अपना प्रभाव डाला हो, उसकी रागात्मिका वृत्ति ने इड़ा का परिष्कार किया हो। हमारे इस

कथन की पुष्टि इड़ा के द्वारा श्रद्धा से कही गई निम्न पंक्तियाँ हैं—

> "हे देवि ! तुम्हारा स्नेह प्रबल,
> बन दिव्य श्रेय उद्गम अविरल।
> आकर्षण घन-सा वितरे जल,
> निर्वासित हों सन्ताप सकल।
> कह इड़ा प्रणत ले चरण धूल,
> पकड़ा कुमार-कर मृदुल फूल।"

यहाँ इड़ा के हृदय-पुष्प में बुद्धि की धूलि नहीं, बल्कि प्रेम का पराग है। उसका हृदय भावनामय—अनुरागरंजित—हो उठा है। परन्तु श्रद्धा के इस प्रभाव को हम केवल बाह्य प्रभाव ही कहते हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उसके अन्तर का विवेक सांसारिक संघर्षों के उद्वेलन से स्वयं ही जागृत एवं प्रबुद्ध हो गया हो और फलतः उसका व्यक्तित्व भी उससे परिवर्तित हो गया हो। उसने यह अनुभव किया कि एकान्त बौद्धिकता का मनु पर स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ा। मनु ने इड़ा के सम्पर्क से गृहीत प्रभाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

> "सब बाहर होता जाता है,
> स्वगत उसे मैं कर न सका;
> बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे,
> हृदय हमारा भर न सका।"

इन पंक्तियों में मनु अस्वस्थ, भ्रान्त और क्लान्त है। इड़ा का सम्पर्क उसे शान्त और स्वस्थ करने में सहायक नहीं हुआ। मनु और इड़ा की वृत्तियों का प्रकृत वैषम्य ही दोनों में भेद बनाए रहा। मनु के चरित्र के मूल में स्वार्थ और काम है; इड़ा के चरित्र में स्वार्थ और बौद्धिकता। दोनों की मूल वृत्तियाँ ही उन्हें मिलने देने में बाधक हैं। इड़ा 'आँसू के भीगे अंचल पर स्मित रेखा से सन्धि-पत्र लिखने' में तथा किसी के प्रति समर्पित होने में सर्वथा असमर्थ है। अपने स्वार्थ-साधन के लिए आदान ही उसने सीखा है, प्रदान करने में उसका विश्वास नहीं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि कि प्रसाद ने इड़ा के चरित्र-चित्रण में आधुनिक युग की बौद्धिक क्षमता से युक्त एक ऐसी सबल नारी का व्यक्तित्व खड़ा किया है जो आज के वैज्ञानिक युग की समस्त शक्तिमत्ता और दुर्बलता

का एक साथ पूरा-पूरा आभास देने में समर्थ है। अनियन्त्रित बुद्धिवाद की पराजय तथा श्रद्धा-समन्वित बुद्धि की गरुनता, रूपक द्वारा, इड़ा के चित्रण से व्यक्त की गई है। आधुनिक युग की अन्य विभीषिकाओं को भी इड़ा के चरित्र में समाविष्ट करके कवि ने इडा को एक प्राणवान्, शक्तिशाली और गतिशील चरित्र बना दिया है। कथा की दृष्टि से स्त्रीत्व का कल्याणकारी स्वरूप उसके चरित्र में कहीं-कहीं प्रस्फुटित हुआ है किन्तु उसका पूर्ण विकास सम्भव नहीं था अतः वह नारी जाति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री नहीं कही जा सकती। *महाकाव्य में एक ऐसी नारी का होना नितान्त* आवश्यक था जो प्रेम में प्रवंचना और स्वार्थ-साधन में तत्पर रहकर पुरुष से सम्पर्क स्थापित करे। आधुनिक युग की नारी—जिसे अल्ट्रा-माडर्न कहते हैं और जो अपनी बौद्धिक पूर्णता के साथ पुरुष के साथ रहकर छलना करती है—इड़ा के व्यक्तित्व में कुछ-कुछ देखी जा सकती है। वस्तुतः इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि का वह रूप है जो अपने चरम विकास की परिणति होने पर संघर्ष और विप्लव की भूमिका प्रस्तुत करती है। भौतिक शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर को प्रेरणा देकर वह ऐसे स्थल पर ले जाती है जहाँ पहुँचकर वह बुद्धिवाद की विडम्बना को समझ जाता है। इडा का चित्रण काव्य-कला की दृष्टि से सफल और पूर्ण है। उसमें वैज्ञानिक युग की दर्पोन्मत्त नारी का चरित्र बहुत ही सफलता से प्रतिफलित हो उठा है।

दिसम्बर, १९५१।

: ६ :

श्री गुलाबराय की समीक्षा-पद्धति : एक मूल्यांकन

शुक्लोत्तरकाली में हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन परिवर्धन हुए। एक ओर समीक्षा में वैज्ञानिकता की पुकार मची, दूसरी ओर सौन्दर्य-बोध का जय-घोष करते हुए छायावादी आलोचक समीक्षा-क्षेत्र में उतरे। (शुक्ल जी के समय में ही इनका उदय होना प्रारम्भ हो गया था और *शुक्ल जी ने उनकी स्वच्छन्द शैली को मर्यादित करने की ओर अपने इन्दौर* वाले भाषण में इंगित किया था।) छायावादी आलोचकों के अतिरिक्त इसी युग में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तत्त्वों को समालोचना-शास्त्र में स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ। मार्क्स, लेनिन, फ्रायड, एडलर, युङ्ग आदि पाश्चात्य विचारकों की तत्त्व-चिन्तन-सरणि हिन्दी-आलोचना में प्रतिष्ठित हुई। बाबू गुलाबरायजी ऐसे युग में आलोचना लिखने में प्रवृत्त हुए जब वादों का घटाटोप छाया हुआ था, किन्तु उन्होंने न तो किसी वाद-विशेष के प्रति आग्रह दिखाया और न किसी से विरोध रखकर ही कुछ लिखा। प्रारम्भ में भारतीय काव्य-*शास्त्र की स्थूल परिभाषाओं तक ही वे सीमित रहे—बाद में पाश्चात्य* सिद्धान्तों की परख करते हुए उनका भी प्रयोग प्रारम्भ किया।

शुक्ल जी की पद्धति से बाबू जी की शैली में जो वैषम्य है उसकी ओर संकेत करना हम आवश्यक समझते हैं। शुक्ल जी केवल विशिष्ट रसानुभूति को लेकर सुन्दर चिन्तन करने में अद्भुत क्षमता रखते हैं तो बाबू जी साहित्य-मात्र के सम्बन्ध में बिना किसी पूर्वग्रह या वैर-विरोध के विचार अभिव्यक्त करते चले जाते हैं और उनमें लीन होने की प्रक्रिया में व्याघात नहीं आने देते। व्यंग्य और वचन-वक्रता का आश्रय वे उसी प्रकार लेते हैं जिस प्रकार शुक्ल जी। अन्तर केवल इतना है कि आपके व्यंग्य में दंश और तीक्ष्णता की मात्रा शुक्ल जी से न्यून होती है। शुभ्र हास्य तक ही सीमित रहना आपका गुण है। शुक्ल जी ने मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र को अपनी आलोचनाओं में स्थान नहीं दिया, किन्तु बाबू जी ने इन तत्वों की उपेक्षा नहीं की और यथास्थान आलोच्य कृति या कलाकार की परिस्थितियों के विश्लेषण में इनका उपयोग किया है। शुक्ल जी ने अपनी उज्ज्वल प्रतिभा और पाण्डित्य से साहित्यालोचन को इतना प्रखर तथा गम्भीर बना दिया था कि सामान्य पाठक उससे प्रभावित ही नहीं—अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। अपनी आलोचना के द्वारा शुक्ल जी पाठक पर छा जाते हैं। भले ही पाठक उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं से सहमत न हो, किन्तु उनका आतंक उसे मानना पड़ता है। बाबूजी की स्वभावगत सादगी और समन्वय-भावना ऐसी है कि उसमें आतंक के लिए स्थान नहीं। सरलता और सुबोधता पर मुग्ध होने पर भी अभिभूत करने की उसमें क्षमता नहीं होती। संक्षेप में, बाबू जी की शैली में न तो प्रखरता है और न विलक्षणता। गाम्भीर्य में शुक्ल जी की समता वे नहीं करते; परिधि-विस्तार में भी उनकी अपनी सीमाएँ हैं; और समीक्षा-गगन की ऊँचाइयों तक पहुँचने की उनकी स्पृहा भी शायद नहीं है। समतल भूमि पर विचरण करते हुए ऋजुता और परिमार्जन को ही उन्होंने अपनाया है।

शुक्लोत्तर समीक्षा और श्री गुलाबराय

शुक्लोत्तर हिंदी-समीक्षा का विकास प्रमुख रूप से तीन धाराओं में हुआ। पहली धारा तो उन आलोचकों की थी जो शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति का अनुगमन करके प्राचीन और नवीन कवियों या काव्य-कृतियों की व्याख्यात्मक आलोचना लिखने में प्रवृत्त हुए। इन्होंने आलोचना के प्रयोग-पक्ष को ही पल्लवित किया। इनमें अग्रणी विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर-

शुक्ल, लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु', जनार्दन मिश्र आदि का नाम लिया जा सकता है। इन आलोचकों को हम शुक्ल-सम्प्रदाय (स्कूल) के आलोचक कह सकते हैं। दूसरी धारा में हम उन छायावादी आलोचकों को रखते हैं जिन्होंने आत्मपरक (सब्जेक्टिव) शैली से काव्य-मीमांसा का बीड़ा उठाया और आलोचना के प्रभाववादी ढंग को प्रचलित किया। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि कतिपय आलोचक इस कोटि में आते हैं। काव्य के सौन्दर्य पक्ष को इन लोगों ने काव्यमयी भाषा में इस शैली से अभिव्यक्त किया कि अभिव्यंजना के चमत्कार ने अभिव्यंग्य को ढँक लिया और पाठक की चेतना विस्मय-विमुग्ध होकर रह गई। तीसरी धारा में वे प्रगतिशील आलोचक हैं जो मार्क्सवाद के आधार पर, सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यों की तुला पर साहित्य को तोलने में समीक्षा की उपादेयता स्वीकार करते हैं। भौतिक जीवन-दर्शन को साहित्य के जीवन-दर्शन से मिलाकर देखने की अभिनव दृष्टि इन आलोचकों से मिली। रूढ़ सिद्धान्तों से पीछा छुड़ाने का भी इस कोटि की समीक्षा में आग्रह रहा है। श्री रामविलास शर्मा, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री शिवदानसिंह चौहान प्रभृति लेखकों को इसका उन्नायक कहा जाता है।

इन तीन धाराओं के साथ ही, किन्तु इन सबसे अधिक प्राणवान, कुछ स्वतन्त्र कोटि के विचारक भी समीक्षा-क्षेत्र में अवतरित हुए। यथार्थ में *शुक्लोत्तर समीक्षा को इन्हीं आलोचकों ने आगे बढ़ाया। युग की संवेदनाओं* को ग्रहण करके तथा रचयिता की मनःस्थिति की वैज्ञानिक ऊहापोह द्वारा, इन समीक्षकों ने आलोचना में नवीन चेतना का संचार किया। इनमें श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, बाबू गुलाबराय, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डॉ० नगेन्द्र, डॉ० सत्येन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन आलोचकों की विशेषता यही है कि इन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र की आधारभूत मान्यताओं को पृष्ठभूमि में रखकर वस्तुपरक विवेचन किये— सार्वभौम सिद्धान्त बनाने का आग्रह प्रकट नहीं किया गया। आचार्य शुक्ल ने अपनी मीमांसा में पूर्वग्रह और अभिरुचि को तिरस्कृत नहीं किया था और न उन पर उचित अंकुश ही वे रख पाए थे। कदाचित् इसी कारण सूरदास के काव्य-विवेचन में तथा छायावादी कवियों के कृतित्व की परख में वे तटस्थ रहकर निष्कर्ष न निकाल सके थे। कहना न होगा कि शुक्लोत्तर समीक्षा में इस त्रुटि का परिहार हुआ और विशिष्ट आलोचकों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के

उत्कर्ष के लिए उपयुक्त क्षेत्र खोज निकाला। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गहन अध्ययन, पांडित्य और शोध के बल पर अपनी कृतियों में विद्वत्तापूर्ण नूतन उद्भावनाएँ तथा सन्धानपूर्ण सूचनाएँ प्रस्तुत कीं। अन्धकाराछन्न हिन्दी के आदि काल को आलोकित करने का श्रेय उनकी तत्त्वनिरूपिणी प्रतिभा को है। भक्ति-युग के सम्बन्ध में परम्परा और शृंखला का तारतम्य स्थापित करना भी आपके ही अध्यवसाय का फल है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक साहित्य की गति-विधि का मूल्यांकन तथा वस्तुनिष्ठ आकलन करने में अपनी सूझ-बूझ और व्यापक मानदण्डों का उपयोग किया। रूढ़ आलोचना के परिहार का यह प्रयत्न हिन्दी-समीक्षा को नूतन मार्ग की ओर उन्मुख कर सका। बाबू गुलाबराय ने सिद्धान्त और प्रयोग का समाहार करके समीक्षा को सुगम, सुबोध और सुस्पष्ट बनाकर सर्वजन-सुलभ बनाने में अमित योग दिया। शुक्लोत्तर समीक्षा के सभी उपादेय अंगों का समवेत रूप बाबू जी की आलोचना में देखा जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र ने पाश्चात्य तथा पौरस्त्य काव्य-सिद्धान्तों के सन्तुलित प्रयोग द्वारा समीक्षा में मनोवैज्ञानिक तथ्यों के समावेश के साथ वैयक्तिक कुण्ठाओं को खोजकर उनके द्वारा कवि के कृतित्व का मूल्यांकन किया। एक-देशीय निर्णय से बचे रहने की सतर्कता जैसी बाबू जी में है वैसी औरों में नहीं पाई जाती। फिर भी, इस युग में निर्णयात्मक आलोचना को न तो सोलहों आने स्वीकार किया गया और न सर्वथा तिरस्कार ही। डॉ० सत्येन्द्र ने मनन और चिन्तन के आधार पर गुप्त, हरिऔध, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि कलाकारों की कृतियों के प्रामाणिक एवं तर्कसम्मत अध्ययन प्रस्तुत किये। फलतः शुक्लोत्तर समीक्षा को अनुप्राणित करने में इन्हीं लेखकों का प्रधान योग रहा। शुक्ल-सम्प्रदाय में दीक्षित न होकर भी अपनी योग्यता, क्षमता और देन के बल पर इन्होंने शुक्ल जी की परिपाटी को किसी-न-किसी रूप में आगे बढ़ाया और व्यक्तिगत प्रतिभा से अपने लिए भी समीक्षा-क्षेत्र में उपयुक्त स्थान बना लिया।

श्री गुलाबराय की समीक्षा-शैली के विधायक तत्त्व

बाबू गुलाबराय की आलोचना-पद्धति को अब तक आलोचकों ने 'अध्ययनात्मक'[1], 'व्याख्यात्मक'[2], 'समन्वयात्मक'[3] और 'व्यावहारिक' आदि कई

---

१. 'आ० हि० सा० में आलोचना',—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृष्ठ ४८।

२. 'समीक्षा की समीक्षा'—माचवे, पृष्ठ ८२।

३. वही, पृष्ठ ६० तथा 'साहित्य-विवेचन—सुमन तथा मल्लिक, पृष्ठ ३३४।

नाम दिये हैं। नाम-भेद के बावजूद चारों शैलियों का पारस्परिक शाश्वत विरोध नहीं हो सकता। व्याख्या के मूल में अध्ययन रहता है और समन्वय के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों की सुस्पष्ट व्याख्या अनिवार्य है। आलोचना को व्यावहारिक बनाने के लिए सिद्धान्त और प्रयोग दोनों का समाहार अपेक्षित है। इस प्रकार ऊपर से नाम में भिन्न दीखने वाले ये चारों प्रकार प्रायः एक दूसरे के पूरक या समान ही हैं। फलतः सभी शैलियों का एक बिन्दु पर मिल जाना सहज है। इसलिए बाबू जी की शैली को हम "समन्वय-परक व्याख्यात्मक शैली" के अन्तर्गत ही रखेंगे और यह देखेंगे कि समन्वय और व्याख्या के लिए उन्होंने किन-किन उपकरणों का उपयोग अपनी समीक्षा-पद्धति में किया।

बाबू गुलाबराय का आलोचना-साहित्य सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों प्रकार का है। 'नवरस', 'हिन्दी-नाट्य-विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' उनकी प्रमुख सैद्धान्तिक कृतियाँ हैं। 'प्रबन्ध प्रभाकर', हिन्दी-काव्य-विमर्श', 'प्रसाद की कला' और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' आदि कृतियाँ प्रयोगात्मक समीक्षा में आती हैं। जिन सिद्धान्तों की स्थापना और पुष्टि बाबू जी ने अपनी सैद्धान्तिक पुस्तकों में की है उन्हीं का प्रयोग व्यावहारिक लेखों में किया गया है। जितना उत्कर्ष साहित्य के सिद्धान्तों का निरूपण करने में उन्हें प्राप्त हुआ उतना ही उन सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोग करने में भी वे प्राप्त कर सके।

बाबू जी साहित्य-शास्त्र के सफल अध्यापक हैं, आचार्य नहीं। अध्यापक की सफलता इसमें है कि वह पक्ष-विपक्ष के विभिन्न मत-मतान्तरों को एकत्र करके इस चातुर्य से अध्येता के समक्ष प्रस्तुत करे कि उसकी ज्ञान-वृद्धि के साथ जिज्ञासा शान्त हो सके और वह दुरूह और क्लिष्ट प्रसंगों को सुगमतापूर्वक हृदयंगम कर सके। इस कला में बाबू जी को अद्भुत सफलता मिली है। निस्सन्देह आचार्य शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदास के बाद पुस्तकों और लेखों द्वारा अध्यापक का कार्य सबसे अधिक आपने ही किया है। कितने ही हिन्दी-प्रेमीजन, जिन्हें विश्वविद्यालयों और कालिजों में जाकर गुरु-मुख से पढ़ने का सौभाग्य नहीं मिलता, वे आपकी कृतियों से ही शास्त्र का ज्ञान उपलब्ध करते हैं। अध्यापक का गुण समन्वयपूर्वक विवेचन, विश्लेषण और व्याख्या ही है। वह विषय को सुबोध और सटीक बनाता है।

आपकी समीक्षा का दूसरा गुण है उसमें नैतिक मूल्यों का समावेश। आप काव्य को शुद्ध कला तक सीमित नहीं रखना चाहते। सौन्दर्य-बोध पर बल देते हुए भी काव्य को 'लोकहिताय' मानने के कारण उसकी व्याख्या भी कल्याणाभिनिवेशी करते हैं। तुलसी के 'स्वान्त: सुखाय' पद पर विचार करते हुए आपने लिखा है :

"स्वान्तःसुखाय से केवल उनका यही अभिप्राय है कि उनको राम गुण-गान से अलौकिक सन्तोष मिलता था। वे धन और यश के प्रलोभनों से परे थे।

वास्तव में सत्काव्य स्वान्त.सुखाय ही लिखा जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह श्रोताओं के लिए नहीं होता। काव्य के कहने और सुनने में सुख मिलता है, लेकिन आत्माभिव्यक्ति का सुख अभिव्यक्त कर देने मात्र से समाप्त नहीं हो जाता। कवि अरण्यरोदन करना नहीं चाहता। वह अपने समानधर्मियों तक अपनी बात पहुँचाना चाहता है। भवभूति तो अनन्त काल तक ठहरने और सारी पृथ्वी में खोजने के लिए तैयार थे। × × × गोस्वामी तुलसीदास जी यद्यपि स्वांत सुखाय लिखते हैं फिर भी उनको बुधजनों के आदर की चिन्ता रहती है। काव्य के प्रयोजन में यदि सामाजिकता को भी स्थान दिया जाय तो अनुचित न होगा।"[1]

'काव्य-मीमांसा के प्रणेता राजशेखर ने भावक की चार कोटियाँ निर्धारित की हैं। उनमें एक कोटि 'तत्त्वाभिनिवेशी' भावक की है, जो शब्द-योजना के गुण-अवगुण को देखता है, दोषों का सुधार करता है और रस का आस्वाद करता है। इन गुणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बाबूजी की समीक्षा-पद्धति बहुत कुछ 'तत्त्वाभिनिवेशी' भावक की है, जिसमें केवल दोषदर्शन की प्रवृत्ति का अभाव है। दोष-परिहार के लिए दोषों की ओर मात्सर्यहीन भाव से इंगित करना बुरा नहीं कहा जा सकता, किन्तु बाबूजी की दृष्टि दोषों पर कम जाती है। वे लिखते हैं : "व्यावहारिक आलोचना में मेरी दृष्टि गुण-दोष-दर्शन की रही है। दोष मेरी दृष्टि में कम ही आते हैं; जो आते हैं उन पर कभी-कभी व्यंग्य भी कर देता हूँ।"

बाबू जी की समीक्षा-पद्धति की चौथी विशेषता है उसका शास्त्र-सम्मत होना। सिद्धान्त और प्रयोग दोनों स्थानों पर आप शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन

१. 'सिद्धान्त और अध्ययन', पृष्ठ ४१।

रहते। समन्वयवाद का चौथा दूषण यह है कि कटुता और स्पष्टवादिता को बचाने के प्रयत्न में समीक्षक नीर-क्षीर-विवेक का अपेक्षाकृत कम ध्यान रखता है। औदार्य और सहानुभूति-तत्त्व की प्रधानता के कारण पानी-मिला दूध भी शुद्ध समझ लिया जाता है। अब देखना यह है कि क्या बाबू जी ने इस प्रकार के अनर्थ और असंगतियों से बचकर समन्वयवाद को स्वीकार किया है अथवा वे इनमें उलझ गये हैं।

बाबू जी की समीक्षा-कृतियों का अनुशीलन इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन करने वाले उनके ग्रन्थों का समन्वय उपर्युक्त त्रुटियों से प्रायः बचा रहा है। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन और उसके यथास्थान प्रयोग ने उन्हें इन दोषों से बचाने में बहुत योग दिया है। उदाहरणार्थ हम उनकी प्रमुख कृति 'सिद्धान्त और अध्ययन' के ऐसे कई स्थलों का निर्देश कर सकते हैं, जहाँ समन्वयात्मक रूप से लिखने पर भी तथ्यों और विरोधों का अनौचित्यपूर्वक समझौता (Compromise) नहीं किया गया है। 'काव्य और कला' शीर्षक अध्याय में लेखक ने असत्य से समझौता न करके अपना दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट और स्वच्छ रखा है। 'अभिव्यंजनावाद और कलावाद' में तो बाबू जी ने समन्वय का कोई सरल तरीका स्वीकार नहीं किया। आचार्य शुक्ल से अपना मत-विरोध स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है और अन्त में समन्वय के लिए भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। क्रोचे के सम्बन्ध में सम्मति प्रकट करने में बड़ी निर्भीकता का परिचय दिया गया है। संक्षेप में, सैद्धान्तिक पक्ष में उनका समन्वय सराहनीय और ग्राह्य है।

किन्तु प्रयोगात्मक या व्यावहारिक समीक्षा में बाबू जी की समन्वय-भावना दृढ़ भूमि पर अवस्थित नहीं है, और न उनकी स्थापनाओं में बल है। व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय तो उनकी शैली है, किन्तु काव्य के भाव-पक्ष का उद्घाटन करते समय जहाँ तथ्यों को समन्वय के नाम पर तोड़ा-मरोड़ा गया है, वह आसानी से गले के नीचे नहीं उतारा जा सकता। उदाहरण के लिए 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' से हम तीन-चार समीक्षाओं की ओर संकेत करना चाहते हैं। 'विद्यापति का काव्य में स्थान' बताते हुए अन्त में उनके भक्त या शृंगारी कवि होने का बड़ा विचित्र समन्वय हुआ है, जो पाठक को कुछ भी निर्णय करने की क्षमता नहीं देता, "वे रसिक भक्तों में से थे, कभी [illegible] प्रबल हो जाती थी और कभी रसिकता का पलड़ा भारी [illegible] समन्वय तो खूब किया, किन्तु यह कहने का

दायित्व अपने ऊपर नहीं लिया कि मूलतः वे क्या थे ! इसी प्रकार 'आचार्य-कवि केशव' पर लिखने के उपरान्त जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें केशव की 'हृदय-हीनता' के आक्षेप पर कुछ नहीं कहा। उनकी प्रमुख विशेषताओं में उनके भाव-पक्ष की आलोचना की उपेक्षा इसीलिए की है कि समन्वयात्मक दृष्टिकोण के लिए उसमें न्यून अवकाश था। सूर और तुलसी की तुलना में भी समन्वयवादी भावना सफल नहीं हो सकी है। यह ठीक है कि सत्साहित्य में एकता की भावना रहती है, किन्तु व्यक्तिगत रुचि, शैली, अभिव्यक्ति और मान्यताएँ तो सदा रही हैं और रहेंगी, उनमें समन्वय खोजने की प्रवृत्ति मंगलमयी अवश्य है किन्तु न तो वह एकान्त सत्य है और न स्वस्थ प्रवृत्ति ही है।

समन्वयवादी के सामने एकता और अभिन्नता का ध्येय रहता है किन्तु उसे यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वह समन्वय के मोह में कहीं राम और रावण का समन्वय तो नहीं कर रहा है। भारतीय संस्कृति समन्वयपरक है, गौतम बुद्ध समन्वयवादी थे, लोकनायक तुलसी भी समन्वयवादी थे और गीता भी भक्ति, ज्ञान और कर्म की समन्वय-चेष्टा से पूर्ण है, किन्तु गौतम बुद्ध को 'ब्राह्मण-धर्म से प्रत्यक्ष विरोध करके समन्वय को ठुकराना पड़ा। तुलसी को 'रामचरितमानस' में राम-महिमा में ही सब-कुछ प्रतीत हुआ और 'गीता' भी तात्कालिक रूप से कर्म को ही प्रधानता देकर कृतकृत्य हुई।

संक्षेप में हम बाबू जी को अपने युग का एक सफल अध्यापक-आलोचक मानते हैं, आचार्य समालोचक नहीं। वे अपनी समीक्षा से युग को गति दे सके हैं, युग-विधान की शक्ति उनमें नहीं। तत्त्वाभिनिवेश की योग्यता उनमें भरपूर है, तलस्पर्शी समीक्षक की दिव्य दृष्टि का अभाव खटकता है। प्रतिपाद्य वस्तु का विशद विवेचन, सटीक वर्णन और सोदाहरण अंकन वे कर सकते हैं, किन्तु मौलिक चिन्तन का गाम्भीर्य हमें उनमें नहीं मिलता। स्वच्छता, सुबोधता और स्पष्टता उनकी अभिव्यंजना के विधायक तत्त्व हैं; किन्तु दीप्ति, कान्ति, प्रखरता और प्रभावोत्पादकता उसमें नहीं आती। अपने युग में उन्होंने आलोचना को क्लिष्ट और दुरूहता के क्षेत्र से बाहर निकालकर सरल और सुलभ बनाया। आलोचना के मानदण्डों में परिवर्तन की दिशा का संकेत न करने पर भी बाबू जी ने अपनी 'व्यावहारिक आलोचना को मौलिक कृति की भाँति सार-संभालकर एक कला-कृति बनाने का प्रयत्न किया।' सच्ची हार्दिकता और ईमानदारी के साथ आलोचना लिखने वाले अपने युग के समीक्षकों में बाबू जी का

स्थान बहुत ऊंचा है। अपनी शक्ति-सीमाओं को समझना और स्वीकार करना बड़े उदारमना व्यक्तियों का काम है। कहना न होगा बाबू जी ने मिथ्याभिमान, दम्भ, दर्प सबको बड़ी सावधानी से दूर रखकर लिखा है—यह आपके साहित्यिक संयम और हार्दिक सौजन्य का द्योतक है।

मार्च, १९५३।

: ७ :

भारतीय समीक्षा-शास्त्र और बाबू गुलाबराय

बाबूजी का लेखन-काल यदि उनकी प्रथम कृति से निर्धारित किया जाय तो सैंतीस वर्ष होता है। काव्यशास्त्र-विषयक उनकी प्रथम कृति 'नवरस' लघु (संस्करण) संवत् १९७७ में प्रकाशित हुई थी। उसका परिवर्द्धित संस्करण संवत् १९८९ में प्रकाशित हुआ। प्रारम्भिक दस वर्षों में बाबू जी की रस-सम्बन्धी उक्त रचना के अतिरिक्त कुछ स्फुट निबन्ध भी प्रकाश में आये किन्तु उन्हें हम आलोचना के अन्तर्गत नहीं रख सकते। हाँ, 'नवरस' में बाबूजी ने रस-सिद्धान्त पर नये दृष्टिकोण से विचार करने का सूत्रपात किया; 'रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया तथा स्थायी भावों का मौलिक सहज वृत्तियों से सम्बन्ध जोड़ा गया।' यह पुस्तक बाबूजी के अन्तर में सन्निविष्ट रस-सिद्धान्त के प्रति अव्यक्त प्रेम का व्यक्त रूप है जो उन्हें आलोचना-क्षेत्र में प्रवेश करते ही भारतीय रस-सम्प्रदाय के साथ अनजाने में संयुक्त कर देती है। नवरस की मीमांसा में बाबू जी ने प्रायः मम्मट, विश्व-

नाथ और जगन्नाथ का मार्ग अपनाया है किन्तु अपने दार्शनिक अध्ययन का यत्र तत्र पुट देकर उसे व्यापक सिद्धान्त बनाने की भी चेष्टा की है। मैं 'नवरस' ग्रंथ को भारतीय समीक्षा के प्रति बाबूजी के प्रेम और आग्रह का प्रतीक मानता हूँ और मेरी धारणा है कि पाश्चात्य दर्शनशास्त्र तथा काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन करने के बाद भी बाबू जी भारतीय आचार्यों की रस, अलंकार, वक्रोक्ति तथा ध्वनि-विषयक मान्यताओं को ही अपने समीक्षा-विषयक ग्रंथों के लिए उपादेय मानते रहे हैं। नीचे की पंक्तियों में संक्षेप में इसी तथ्य की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में बाबू जी के चार प्रमुख ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं; नवरस, हिन्दी नाट्य-विमर्श, सिद्धान्त और अध्ययन तथा काव्य के रूप। इन चार ग्रन्थों में अन्तिम दो ग्रन्थ शास्त्रीय मीमांसा का आधार लेकर चलते हैं अतः बाबू जी ने प्रथम दो ग्रन्थों के मौलिक प्रश्नों को इनमें समाहित कर लिया है। रस विवेचन में बाबूजी के समक्ष प्रायः वही परम्परा रही है जो भारतीय रसवादियों के ग्रन्थों में है। जहाँ कहीं पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र या मनोविज्ञान का प्रयोग हुआ है वह केवल उसकी सीमा-विस्तार के लिए अथवा अद्यतन सिद्धान्तों को 'रसवाद' में चरितार्थ करने के उद्देश्य से हुआ है। उनके आधार पर बाबू जी के रस-विमर्श को अभारतीय या शुद्ध मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी नाट्य-विमर्श में बाबूजी ने नाटक-रचना के जिन मौलिक तत्वों की स्थापना की है वे प्रायः भारतीय नाट्य-शास्त्र पर ही अवलम्बित हैं। नाट्य-संधियों की स्वीकृति, अर्थ-प्रकृतियों की स्थापना और अवस्थाओं का निर्देश बाबूजी ने शुद्ध भारतीय समीक्षा के आधार पर किया है। 'काव्य के रूप' में तो तीनों का सामंजस्य घटित करके समझाने के लिये चार्ट प्रस्तुत किया है—यह उनकी विवेचक बुद्धि का सुन्दर निदर्शन है। नाटक की कथा-वस्तु के सम्बन्ध में भी बाबूजी की मान्यता का मुख्य आधार भारतीय ही रहा है। प्रधान रूप से रंगमंच पर घटित होने वाली दृश्य-श्रव्य कथावस्तु के अतिरिक्त सूच्य कथा-वस्तु का विस्तार भारतीय नाट्यशास्त्र की विशेषता मानी जाती है। इस सूच्य कोटि की कथावस्तु के पांच अर्थोपक्षेपक साधन स्वीकार किये गये हैं। अर्थोपक्षे-पक में विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक का भेद किया गया है। कथोपकथन में भी श्राव्य और अश्राव्य के साथ नियत श्राव्य का भेद भारतीय है जिसे बाबूजी ने माना है। पात्र-वर्णन में नायक के गुणों का वर्णन

भी भारतीय पद्धति से किया है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुकरण की बात न कह कर मैं यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि बाबूजी ने वर्तमान युग की नूतन विचारधारा को सैद्धान्तिक रूप से ग्रहण न करके परम्परानुमोदित प्राचीन सिद्धान्तों की ही स्थापना करके उसका समर्थन किया है।

नाटक के विषय में रस की दृष्टि से सुखान्त और दुखान्त का प्रश्न विचारणीय रहा है। आधुनिक युग में दुखांत सुखांत का पार्थक्य करके नाटकों की परख नहीं की जाती किन्तु सद्धान्तिक विवेचन के रूप में तो इस प्रश्न पर ध्यान देना ही होगा। बाबूजी ने इस प्रश्न पर पाश्चात्य देश के विचारकों के मन्तव्यों को सामने रखकर अवगाहन किया है। दुखांत नाटकों में सुख-प्राप्ति के प्रश्न पर भी सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है और अन्त में जो निर्णय दिया है वह शुद्ध भारतीय रसवादी शैली का निर्णय है। बाबूजी लिखते हैं—"दुखांत नाटकों के देखने से रस की उत्पत्ति होती है। हम शोक नहीं चाहते, किन्तु करुण रस में मग्न होना चाहते हैं। भाव सुख-दुखमय होते हैं, रस आनन्दमय है।" (काव्य के रूप, पृष्ठ ५३)। उक्त स्थापना का आधार शुद्ध भारतीय ही मानना होगा क्योंकि रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर मानकर रसोद्रेक के कारण एकांत आनन्दमय भारतीय शास्त्रों में ही माना गया है। दुखांत नाटकों के विवेचन में भी बाबूजी भारतीय पक्ष के पोषक प्रतीत होते हैं, सुखांत नाटकों में ईर्ष्या आदि के बुरे भाव भी जाग्रत हो सकते हैं किन्तु दुख की अतिशयता का भी हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए हमारे यहाँ दुखात्मक नाटक होते हैं—दुखांत नहीं। "सुख में विनाश की उन्मत्तता आती है और दुख में सात्विकता का उदय होता है। इस दृष्टि से दुखांत नाटकों का महत्व अवश्य है, फिर भी उनके द्वारा हमारी ईश्वरीय न्याय की भावना को ठेस लगती है। भारतीय नाटककार इस भावना को ठेस नहीं पहुँचाते।" (काव्य के रूप, पृष्ठ ५३। "एक ओर दुखांत नाटकों द्वारा भावों की परिशुद्धि और दूसरी ओर ईश्वरीय न्याय की रक्षा की माँग इस उभयतोपाश—इधर कुआँ और उधर खाई वाली बात से बचने के लिए ही संस्कृत के प्राचीन नाटककारों ने दुखांत नाटकों के स्थान में दुखात्मक नाटकों की रचना की थी।" (काव्य के रूप, पृष्ठ ५५)।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बाबूजी का 'सिद्धान्त और अध्ययन' नामक ग्रंथ विशेष महत्व का है। इस ग्रन्थ के अष्टादश प्रकरणों में साहित्य-शास्त्र के विविध विषयों का अध्ययन-अनुशीलन प्रस्तुत हुआ है। काव्य की आत्मा और परिभाषा और वर्ण्य विषय से लेकर समालोचना के मान तक

बाबूजी ने व्यापक परिधि में जो अध्ययन प्रस्तुत किया है उसका आधार मुख्यतः भारतीय समीक्षा-शास्त्र ही है। जहाँ कहीं पाश्चात्य सिद्धांतों का वर्णन है वह केवल तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से ही है या कहीं पूर्वपक्ष के रूप में भी वह स्वीकृत हुआ है। भारतीय प्राचीन सिद्धांतों के प्रति बाबूजी का विशेष आग्रह वहाँ स्पष्ट परिलक्षित होता है जहाँ वे किसी ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं जो आधुनिक युग में विवाद का विषय बना हुआ है। अपने इस कथन के समर्थन में नीचे कतिपय विशिष्ट स्थलों का मैं संकेत करूँगा।

काव्य में शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है इस प्रश्न को उठाते ही बाबू जी ने भारतीय दृष्टिकोण का आश्रय लेकर पार्वती-परमेश्वर की एकता का उपमान रघुवंश के 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' के उद्धरण से जुटाया है। यह अभेद-बुद्धि शुद्ध भारतीय है जो आधुनिक युग के 'फ़ार्म' और 'कंटेंट' के प्रश्न पर भी प्रकाश डालने में सहायक होती है। आगे अलंकार और *अलंकार्य के प्रश्न पर विचार करते हुए भी क्रोचे की मान्यता पर भारतीय* अलंकारवादियों की छाप पाद-टिप्पणी में डालने का प्रयत्न किया है। 'फूल की भाँति अलग दिखाई पड़ने वाले अलंकार अलंकार्य से अभिन्न होने पर भी अपना भिन्न अस्तित्व रख सकते हैं' यह ध्वनि अस्पष्ट रूप से निकल रही है। काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख करने के बाद जो समन्वय प्रस्तुत किया गया गया है उसका आधार शुद्ध भारतीय रसवादी दृष्टिकोण है। "इसी से वह रस (जल के अर्थ में) अपना नाम सार्थक करता है। आस्वाद्य होने के कारण वह रसना के रस की भी समानधर्मता सम्पादित करने में समर्थ रहता है। म्लान और म्रियमाण-हृदयों को संजीवनी शक्ति प्रदान कर आयुर्वेदिक रसों के गुणों को भी वह अपनाता है। काव्य का सार होने के कारण उसमें फलों के रस की भी अभिव्यक्ति है। रस अर्थात् आनन्द तो उसका निजी रूप है। यह रमणीयता का चरम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थस्वरूपा ध्वनि का विश्राम-स्थल है। इसलिए वह परमार्थ है। स्वयंप्रकाश्य, चिन्मय, अखंड ब्रह्मानन्द-सहोदर है—रसोवैसः।" (सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १६)। इन पंक्तियों में काव्य की आत्मा रस का जो रूप वर्णित हुआ है वह अभिनवगुप्त से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की मान्यताओं का सारतत्व ही है। किसी पाश्चात्य आलोचक या विचारक ने रस की यह स्वरूप-स्थिति किसी ग्रंथ में उपस्थित नहीं की है रस के विविध रूपों का ऐसा सुन्दर समन्वय हिन्दी आलोचकों में भी कम ही हुआ है। यह संस्कृत साहित्यशास्त्र की अपनी परम्परा है, उसे ही

आत्मसात् करके बाबूजी ऐसी सुन्दर स्थापना कर सके हैं।

काव्य की परिभाषा के विषय में भी देशी-विदेशी साहित्य में अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प पैदा होते रहते हैं। प्राचीनकाल से ही यह प्रश्न गम्भीर विचार-मथन को लेकर आगे बढ़ता रहा है। परिभाषा करते समय समीक्षकों के सामने काव्य के भाव और कला दोनों पक्ष रहे हैं। कुछ आचार्यों ने भावपक्ष को प्रधानता देकर काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की है तो कुछ का ध्यान कला अर्थात् अभिव्यक्ति की ओर रहा है। फलतः परिभाषाओं का जमघट होता गया। बाबूजी ने इस प्रश्न के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने से पूर्व भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्रियों एवं विचारकों के मत उद्धृत किये हैं। इन मतों की पीठिका में बाबूजी ने जो परिभाषा तैयार की है उस पर सर्वतोमान्य भारतीय काव्य-शास्त्रियों का प्रभाव है : "काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान (किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्ध) से मुक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की, कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय की प्रेयरूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। इसी परिभाषा की शक्तियों और अलंकारादि के साथ पाठक का भी संकेत हो जाता है। शब्द द्वारा भाषा में प्रायः सभी बातें आ गई हैं किन्तु इसमें वह लाघव नहीं जो वाक्यं रसात्मकं काव्यं में है। वास्तव में यह उसी का बृहद् संस्करण है।" (सि० और अध्ययन, पृ० २५)। यों तो बाबूजी स्वयं इसे विश्वनाथ महापात्र की परिभाषा का बृहद् रूप मानते हैं किन्तु यदि इसे 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कहा जाय तो अधिक समीचीन होगा। रमणीय अर्थ में प्रभावोत्पादकता के लिए अपेक्षाकृत अधिक गुंजाइश है। बाबू जी ने पाश्चात्य देशों के आठ विचारकों की परिभाषाएँ इस संदर्भ में उपस्थित तो की हैं किन्तु उनका मन कहीं रमा नहीं और न वे उन दिग्गज विचारकों से अभिभूत ही हुए—निस्सन्देह यह भारतीय काव्यशास्त्र की विजय का उद्घोष है।

साहित्य की मूल प्रेरणा क्या है ? क्यों कवि या लेखक के अन्तर में काव्य-सर्जन की इच्छा होती है और क्यों वह शाब्दिक अभिव्यक्ति के माध्यम से काव्य-रचना करता है। यह प्रश्न चिर-अनादि से चला आ रहा है। बाबू जी ने फ्रायड, युंग, एडलर आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतों को उद्धृत करके भी जो स्वीकृत किया है उसका आधार शुद्ध भारतीय दार्शनिक चिन्तन ही है। जीवन की प्रेरणाओं को स्पष्ट करते हुए 'एषणात्रय' को ही समस्त क्रिया-व्यापार का प्रेरक ठहराया है। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने इसी को सामान्य मानव की प्रेरणा का उद्गम समझा था। बृहदारण्यक उपनिषद् में

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा को सांसारिक प्रवृत्ति का कारण बताया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की तत्व-चिंता में इन्हीं का रूप रहता है अतः हमारे लिए फ्रायड, युंग, और एडलर की चिंताधारा एकदम नवीन नहीं है। हां, वर्जनाओं के आधार पर काव्य-सर्जना की वात अवश्य कुछ नई और चकित करने वाली हो सकती है। बाबूजी ने जीवन की मूल प्रेरणाओं के साथ ही साहित्य की मूल प्रेरणाओं का सम्बन्ध स्थापित करके इसे भारतीय जीवन-दर्शन के साथ संयुक्त करने की सफल चेष्टा की है। औपनिषदिक चिन्तन की भित्ति पर साहित्य की मूल प्रेरणा खोज लेने में बाबूजी ने कोई दूरारूढ़ कल्पना नहीं की है वरन् भारतीय मनीषा का व्यापक रूप ही प्रस्तुत किया है। आत्मरक्षा, आत्मानुभूति ही इस प्रेरणा का आधार है। यह कल्पना शुद्ध भारतीय है भले ही काव्य-शास्त्रों में इसकी चर्चा न हुई हो किन्तु वृहदारण्यक और छान्दोग्य के वर्णन इस सिद्धान्त के पोषक हैं। बाबूजी ने उन्हीं के सहारे बड़ी सुन्दरता से अपनी बात पाठक के मस्तिष्क में प्रविष्ट कराई है।

साहित्य के प्रयोजन वर्णन करते हुए बाबूजी 'काव्यप्रकाश' की वृति का ही आश्रय लेकर उसी का भाष्य प्रस्तुत कर रहे हैं। स्वान्तःसुखाय की बात उन्होंने तुलसी के रामचरितमानस की उक्ति को लेकर उठाई है किन्तु उसका समाधान भारतीय व्यापक दृष्टि के साथ किया है। 'भारतीय दृष्टि में आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार में ही आत्मा की पूर्णता है (यह शुद्ध औपनिषदिक विचारधारा है—लेखक)। लोकहित भी एकात्मवाद की दृढ़ आधारशिला पर खड़ा है। यश, अर्थ, यौन सम्बन्ध, लोकहित सभी आत्महित के नीचे या ऊँचे रूप हैं। ये सभी हृदय के ओज को उद्दीप्त कर काव्य के प्रेरक बन जाते हैं। × × ×। रस, लेखक और पाठक दोनों का प्रेरक है सभी उद्देश्य इससे अनुप्राणित होते हैं। यह सबका जीवन रस है।"(सिद्धांत और अध्ययन, पृष्ठ ५६) इन सभी प्रसंगों में रसानुभूति को ही साहित्य-सृजन का प्रेरक मान कर भारतीय दृष्टिकोण ही स्वीकार किया गया है।

कला और साहित्य-जगत का आदर्श वाक्य 'सत्यं, शिवं, सुन्दर' यूनानी पदावली का अनुवाद होते हुए भी हमारी भारतीय भाषाओं में इतना घुलमिल गया है कि हमें यह सर्वांश में अपना ही आदर्श प्रतीत होता है। बाबू जी ने इसकी समता में गीता का जो श्लोक प्रस्तुत किया है वह निरसन्देह इस आदर्श वाक्य का पुरातन रूप है—

'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् :
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥'

सत्यं, प्रिय और हितं क्रमशः सत्य, सुन्दर और शिव के समकक्ष उसी भाव की व्यंजना करने वाले शब्द हैं और इनका प्रयोग भी स्वाध्याय तथा वाणी के तप के प्रसंग में हुआ है। बाबूजी ने इस सत्यं, शिवं, सुन्दर को कई तरह चरितार्थ करके आधुनिक युग का यथार्थ आदर्श ही बना दिया है। ज्ञान, भावना और संकल्प के प्रतिरूप अथवा ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ कर भारतीय चिंताधारा को इन शब्दों में ढूंढ निकाला है। किसी पाश्चात्य विद्वान का ध्यान इन दार्शनिक एवं धार्मिक भूमियों पर नहीं गया होगा और न साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य क्षेत्र में इस आदर्श वाक्य का प्रयोग ही हुआ हो। बाबू जी ने भारतीय दर्शन और साहित्य के मूल स्रोत के साथ इसे जोड़ कर विदेशी होने से बचा लिया है।

रस-मीमांसा के प्रकरण में बाबू जी ने भारतीय विचार-परम्परा का अनुशीलन करते हुए उसका सारांश ही सुबोध रूप में प्रस्तुत किया है। उसमें तो भारतीय विचार ही उनके प्रतिपाद्य हैं अतः इस विषय में कोई उद्धरण देकर अपनी बात की पुष्टि करना व्यर्थ है। हाँ, साधारणीकरण के विषय में बाबू जी ने जो स्पष्टीकरण दिया है वह मनन करने योग्य है। आई० ए० रिचर्ड्स के सम्बन्ध में बाबू जी ने 'नॉर्मैलिटी ऑफ द आर्टिस्ट' का उल्लेख करके उसे साधारणीकरण के क्षेत्र में ले लिया है यह भारतीय मनीषा का ही प्रभाव है। वैचित्र्यवाद का विरोध भी इसमें किया गया है। और रिचर्ड्स के कथन के आधार पर ही बाबू जी ने पाठक को अपने साथ लगाये रखा है। बाबू जी की विषय-प्रतिपादन-शैली का यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान् रसमर्मज्ञ लेखक की अभिव्यक्ति जहाँ जटिल और दुरूह बन गई है, वहाँ बाबू जी सुस्पष्ट, सुबोध और सुगम रहते हुए क्लिष्ट प्रसंगों की सुन्दर व्यंजना करने में सफल हुए हैं।

काव्य के कलापक्ष की व्याख्या में भी बाबू जी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र की परिपाटी का अनुगमन किया है। रीति, गुण और वृत्तियों का वर्णन करते हुए उन्हें शैली के साथ यथोचित रूप में स्थान देने का विधान उन्होंने किया है। शैली के प्रसंग में समास और व्यास शैली का आजकल जो वर्णन

सुनाई पड़ता है, बाबू जी ने उसे भी प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र की देन सिद्ध किया है—

"पदार्थे वाक्य रचनं वाक्यार्थे च पदाविया ।
प्रौढ़िर्व्यास समासौच साभिप्रायत्वमस्य च ॥"
(काव्यप्रदीप)

एक पद के अर्थ में वाक्य की रचना करना व्यास शैली कहलाती है और वाक्य के अर्थ में एक पद की रचना करना समासशैली कहलाती है । कुछ लोगों में शैली (Diction) के सम्बन्ध में यह धारणा पाई जाती है कि रीति-वृत्ति से पृथक् शैली का स्वतन्त्र विधान भारतीय साहित्य-शास्त्र में नहीं है किन्तु बाबू जी ने इस धारणा का सप्रमाण खंडन कर अन्य काव्य-सिद्धान्तों की भाँति इसमें भी भारतीय परम्परा की रक्षा की है ।

शब्दशक्ति के विवेचन में भारतीय साहित्य-शास्त्र को ही आधार बनाकर प्राचीन ग्रन्थों का अनुसरण बाबू जी ने किया है । हाँ, विषय को सुबोध बनाने के लिए उदाहरण अवश्य नये दिए गए हैं । पाश्चात्य देशों में व्यंजना के जो रूप हैं और उसका जैसा प्रयोग वहाँ है उसे बाबू जी ने प्रतिपाद्य नहीं बनाया ।

समालोचना के मान स्थिर करते हुए प्राचीन आचार्यों के मन्तव्य ही बाबू जी ने प्रारम्भ में उद्धृत किए हैं । काव्य-मीमांसा के आधार पर कवि, भावक और समालोचक का स्वरूप वर्णन करने के बाद समीक्षा और समीक्षक के गुण-दोष आदि का वर्णन अपनी सूझ-बूझ के आधार पर विस्तारपूर्वक किया है ।

"यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः ।
सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः ॥"

प्रभाववादी आलोचक की प्रवृत्ति का निर्धारण करते हुए बाबू जी ने कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक से जो पंक्ति उद्धृत की है वह काव्य-शास्त्र की पंक्ति न होते हुए भी शास्त्र का काम देने में सहायक होती है ।

"सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः ।" इसी प्रकार रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, विष्णुपुराण और उपनिषद् के उद्धरणों से

समालोचना के मानों को स्थिर करके बाबू जी ने अपनी तत्वाभिनिवेशिनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

आधुनिक युग में अंग्रेजी, फ्रेंच आदि समृद्ध भाषाओं के सम्पर्क के कारण साहित्य की विधाओं का इतना व्यापक विस्तार हो रहा है कि उनके मूल्यांकन और परख के लिए प्राचीन मानदंड अपर्याप्त प्रतीत होने लगे हैं। इस बात की ओर स्वयं बाबू जी का भी ध्यान गया है और उन्होंने अपनी 'काव्य के रूप' पुस्तक के निवेदन में लिखा है कि अब तो काव्य की प्राचीन परिभाषाओं में भी हेर-फेर करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।

इस स्वीकृति के बावजूद भी बाबू जी स्वयं अपने काव्यशास्त्र-पर्यालोचन में प्राचीन भारतीय आधार को छोड़ नहीं सके हैं। यथार्थ में 'पुराणमित्येव न साधुसर्वम्' की बात समझने पर भी प्राचीन की साधुता स्वीकार करने को विवश होना ही पड़ता है।

बाबू जी के काव्यालोचन का आधार हमारी दृष्टि में भारतीय है। उन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्र के अतिरिक्त पुराण, इतिहास, स्मृति, उपनिषद् और काव्य-नाटकादि से भी काव्य-सिद्धान्तों का चयन किया है।

मैं आलोचना को बौद्धिक व्यायाम तक ही सीमित नहीं मानता। सत्समालोचना में हार्दिक पक्ष का उतना ही स्थान रहता है जितना बौद्धिक विचार-विवेचन का। बाबू जी ने इस तथ्य को इतनी गहराई से समझा और पकड़ा है कि उनके ग्रंथ कहीं भी शुष्क, बोझिल और नीरस नहीं हुए हैं। जो आलोचक शास्त्रीय व्यायाम की शैली में आलोचना का ताना-बाना बुनते रहते हैं, मैं समझता हूँ उन्हें अपनी सृजन-प्रेरणा के मूल उत्स पर एक बार दृष्टि-निक्षेप करना चाहिए। उन्हें सोचना चाहिए कि उनके भीतर 'अर्ज ऑफ एक्सप्रेशन' किस रूप में उत्पन्न होती है और फिर जो कुछ वे अभिव्यक्त कर रहे हैं वह यथार्थ प्रेरणा का फल है या ऊपर से लादा हुआ बोझ मात्र है। मैं ऐसे आलोचकों से निवेदन करूँगा कि वे बाबू जी की शास्त्रीय तथा व्यावहारिक आलोचना-शैली का ध्यानपूर्वक अध्ययन-अनुशीलन करें और देखें कि किस प्रकार पूरी सहृदयता और सहजता के साथ आलोचना को भी संवेद्य तथा प्रेरणीय बनाया जा सकता है। निश्चय ही जो समीक्षक कट्टरता तथा पक्षपात छोड़ कर काव्यानुशीलन का अभ्यासी होगा वह अवश्य ही आलोचना को भी रसनिष्ठ और आस्वाद्य बना सकेगा। बाबू जी इस तथ्य के निदर्शन हैं। हृदय के आवेग-

संवेग जिस प्रकार साहित्यिक कृति के मूल में रहते हैं वैसे ही उस कृति के समीक्षात्मक आकलन और मूल्यांकन में भी उपस्थित रहते हैं, इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए।

संक्षेप में, बाबू जी का समस्त आलोचनात्मक साहित्य मूल रूप से भारतीय शास्त्र-परम्परा पर आधृत उसी का स्वच्छ और स्पष्ट विवेचन है। यत्र-तत्र उसमें पाश्चात्य मीमांसकों की विचारधारा का सम्मिश्रण हुआ है जो केवल पुट के रूप में ही माना जायगा। चिन्तन, मनन, अध्ययन और उपस्थापन की भित्ति शुद्ध भारतीय है इसीलिए उनके सिद्धान्तों में बल है, शक्ति है, आर्जव भाव है। काव्य-शास्त्र के पुनरास्थान-काल में बाबू जी की हिन्दी को यह महान् देन है, इससे लाभान्वित होने वाला आज का हिन्दी का विद्यार्थी और साहित्यानुरागी भली भाँति परिचित है। निश्चय ही उनके आभार को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

नवम्बर, १९५५

: ८ :

जयभारत : एक समीक्षात्मक अध्ययन

कृष्ण द्वैपायन व्यास-विरचित महाभारत के घटना-संकुल ऐतिहासिक एवं पौराणिक विराट् आख्यान की सुपरिचित पृष्ठभूमि पर 'जयभारत' काव्य की रचना हुई है। महाभारत के विशाल कथानक का इस रीति-नीति से काट-छाँट कर चयन किया गया है कि मूल कथा का आवश्यक भाग ही रक्षित रहा है, अनावश्यक विस्तार (या अवान्तर क्षेपक अंश) छूटता गया है। कथा के त्याग और ग्रहण में कवि ने प्रमुख चरित्रों को अक्षुण्ण रखते हुए उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ही चयन किया है जिनके आधार पर कौरवों-पांडवों से सम्बद्ध महाभारत-कथा आज तक ग्रन्थों में ही नहीं—अनुश्रुतियों में भी जीवित है। कुछ प्रसंग मेरे इस कथन के अपवाद हो सकते हैं किन्तु उनकी स्थिति महाकाव्य के विशाल कलेवर में असह्य नहीं है। महाभारत के विराट् आख्यान में सैकड़ों पौराणिक उपाख्यान कदलीदल की भाँति सम्पृक्त हैं, उनका विच्छेद और चयन सचमुच दुष्कर है। फिर भी कहना न होगा कि वस्तु-मर्म के पारखी गुप्तजी ने उन गर्भित प्रसंगों को चुनने में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है जो प्रबन्धकाव्य में प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। कथा-प्रसंग को सतत गतिशील

रखते हुए जहाँ कहीं कवि ने संक्षेप किया है वहाँ प्रसंग की अन्विति का ध्यान रखा है, किन्तु इस सतर्कता के बावजूद भी कुछ स्थलों पर प्रवाह में व्याघात आ गया है। यह व्याघात पौराणिक अन्तर्कथाओं के कारण आया है। कथा का अध्याहार करके उसकी अन्विति बिठाने के लिए पाठक को यदि तनिक भी रुकना पड़े तो यह झटका उसकी रसानुभूति में बाधक होगा ही।

'जयभारत' में नहुप से प्रारम्भ करके पांडवों के स्वर्गारोहण तक समस्त कथानक सैंतालीस सर्गों (प्रकरणों) में विभक्त है। प्रत्येक प्रकरण का शीर्षक सम्बद्ध व्यक्ति या घटना के नाम पर है। सम्पूर्ण काव्य का रचनाकाल एक न होने से शैली में वैविध्य है। गुप्तजी ने अपने सुदीर्घ रचना-काल में महाभारत के विभिन्न प्रसंगों पर यथासमय जो कुछ लिखा उसमें से ही कतिपय प्रसंगों का इस कृति में परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ समावेश किया है। अपने निवेदन में कवि ने इस हेर-फेर और परिष्कार को अपनी लेखनी का क्रम-विकास ही माना है। महाभारत के 'जयद्रथवध' प्रसंग पर गुप्तजी ने द्विवेदी युग में जो खंडकाव्य लिखा था, उसका उपयोग इस महाकाव्य में नहीं किया। जयद्रथ-वध प्रसंग नये सिरे से, सक्षेप में, लिखा है। कदाचित् कवि को अपनी प्रौढ़ि पर पहुँचकर किशोरावस्था की कृति के प्रति मोह नहीं रहा। चूँकि इस महाकाव्य के विभिन्न प्रसंगों की सृष्टि विभिन्न कालों में हुई अतः उनकी अभिव्यंजना-शैली में भेद होना स्वाभाविक है। प्रारम्भिक रचनाओं में (इतिवृत्तात्मक) वर्णनात्मक व्याम-पद्धति का आश्रय लिया गया है, परवर्ती रचनाओं में समासशैली के साथ वाक्यों में कसाव और विचारों में गाम्भीर्य लक्षित होता है। कथा-प्रवाह भी आद्योपान्त एक-सा नहीं है—कहीं कथा कहने का आग्रह है तो क्षिप्रता आ गई है, कहीं किसी प्रसंग को नवीन रूप देना अभीष्ट हुआ तो कवि की चित्त-वृत्ति उसमें रम गई है और प्रवाह में मंथरता आ गई है। प्रायः उन्हीं प्रसगों में तीव्रता आई है जहाँ सक्षेप और समाहार-शैली से कथा को समेटा गया है। कौरव-पाडव, परीक्षा, लाक्षागृह, इन्द्रप्रस्थ, अतिथि और आतिथेय आदि प्रकरण इसके प्रमाण हैं। कल्पना का पुट देकर जिन घटनाओं को नूतन उद्-भावना के साथ लिखा गया है उनमें एकलव्य, हिडिम्बा, द्यूत, तीर्थयात्रा, कुन्ती और कर्ण, द्रौपदी और सत्यभामा, युद्ध तथा स्वर्गारोहण आदि हैं। वस्तुतः इन्हीं प्रसगों के नव-निर्माण में 'जयभारत' के रचयिता की कृतार्थता लक्षित होती है।

काव्य का मूल ध्येय : मानव-महत्व की स्थापना

'जयभारत' महाकाव्य गीती की प्रबन्ध-रचना है। इसका मूल ध्येय नर (मानव) का महत्व प्रदर्शित करना है। नर की कर्तव्यनिष्ठा और धर्म-साधना जब चरम उत्कर्ष पर पहुँचती हैं तब उसमें से एक ऐसी दिव्य आभा प्रस्फुटित होती है जो लोक-परलोक सबको अपनी दीप्ति से आलोकित कर देती है। महाभारत में—'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' कह कर व्यासमुनि ने इसी नर-महिमा की ओर संकेत किया है। 'जयभारत' के कवि ने भी अपने काव्य के मंगलाचरण में इसी उद्देश्य से 'नमोनारायण, नमो नर-प्रवर पौरुषवरेनु' कहकर नर को नमस्कार किया है। इसके बाद काव्य का (उपक्रम) प्रारम्भ भी 'नारायण-नारायण साधु नर-साधना'—द्वारा होता है। उपसंहार में भी युधिष्ठिर(नायक) भगवान् से यही याचना करते हैं—'हे नारायण! क्या और कहूँ, तू निज नरमात्र मुझे रखना।' मनुष्य-जन्म को ही साधना की सफलता समझने वाले युधिष्ठिर के समक्ष भगवान् ने प्रकट होकर यही कहा—

> "सस्मित नारायण प्रकट हुए
> आओ हे मेरे 'नर' आओ।
> जो कुछ है यहाँ तुम्हारा है
> मुझको पाकर सब कुछ पाओ।"

नर-देह में मानव की गौरव-गरिमा से मंडित युधिष्ठिर को देखकर यही लगता है कि नरजन्म से बढ़कर इस संसार में और कुछ काम्य नहीं, मानव-धर्म से बढ़कर कुछ साध्य नहीं, मानवता की उपासना से बढ़कर कुछ उपास्य नहीं। सच्ची नर-साधना ही ऐहिक एवं आमुष्मिक सुख-शान्ति की जननी है। मानवात्मा ही ईश्वर, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है।

यथार्थ मानव-प्रतीक : युधिष्ठिर का चित्रांकन

धर्मराज युधिष्ठिर का चरित्रांकन 'जयभारत' में भारत के प्रतीक 'यथार्थ मानव' के रूप में हुआ है। धर्मप्राण युधिष्ठिर की कर्तव्य निष्ठा का आधार कोरी शास्त्र-मर्यादा न होकर लोकमर्यादा है जो 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' तथा 'आत्मवत् प्रियमात्मनः' का मानदण्ड मानते रहकर 'स्व-सुख' को 'पर-कल्याण' में पर्यवसित कर देती है। इसीलिए 'धर्म' को 'पराये' से देखते हुए 'सर्वेभवन्तु सुखिना सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा

कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्' के ऊर्जस्वित स्वर में युधिष्ठिर ने युद्ध और हिंसा के प्रति अपना उद्वेग प्रदर्शित करते हुए कहा है :—

"राम, अब भी मैं यही कहता हूँ मन से
कामना नहीं है मुझे राज्य की या स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूँ मैं यही
ज्वाला ही जुड़ा सकूँ, मैं अपनों के दुःख की,
भोगूँ अपनों का सुख, मेरा पर कौन है ?
सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों—
सब शुभ पावें, न हो दुखी कहीं कोई भी।"

मानवमात्र को एक ही परमात्मा का अंश मानते हुए सबमें समभाव रखते हुए युधिष्ठिर कहते हैं :—

"सुनो तात, हम सभी एक हैं भवसागर के तीर,
हो शरीर यात्रा में आगे पीछे का व्यवधान,
परमात्मा के अंश रूप हैं आत्मा सभी समान,
एकलव्य तो मनुज मुझी-सा मुझमें सबका भाग,
मैं सुरपुर में भी न रहूँगा निज कूकर तक त्याग।"

धर्म के प्रति जैसी अटल आस्था युधिष्ठिर के सामारिक कृत्यों के बीच दृष्टिगत होती है वैसी राम के चरित्र को छोड़कर भारतीय साहित्य में अन्यत्र नहीं है। 'जयभारत' के कवि ने उसी प्रत्यय को व्यावहारिक क्षेत्र में यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित करके मानव की महिमा का बार-बार यशोगान किया है। युधिष्ठिर का जीवन विरोधी शक्तियों के भीषण आक्रमणों से उत्तरोत्तर कान्तिमय होता गया है। पल-पल पर संयम और धैर्य की परीक्षा देते हुए युधिष्ठिर न तो विचलित होते हैं और न हतप्रभ ही। संसार के सुख-भोग के प्रति गहरी अनासक्ति उनके भीतर पैठी हुई है और यथार्थ में वही उनकी शक्ति, बल, तेज सब कुछ है :—

"जीवन, यशस्, सम्मान, धन, संतान, सुख सब मर्म के,
मुझको परन्तु शतांश भी लगते नहीं निज धर्म के।"

'द्यूत', 'तीर्थयात्रा', 'युद्ध' और 'स्वर्गारोहण' इस काव्य के ऐसे सर्ग हैं जिनमें युधिष्ठिर सांसारिक दृष्टि से मान-अपमान, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और

उत्थान-पतन के चरम बिन्दुओं तक पहुँचे हैं। किन्तु भौतिक द्वन्द्व और संघर्ष की बेला में उनकी वृत्तियाँ न तो कुंठित हुई हैं और न पराक्रान्त ही। किसी प्रकार का अतिरेक उनके व्यापारों में नहीं है। दुःख को वे आनन्दपूर्वक वैसे ही स्वीकार करते हैं जैसे समुद्रमंथन से उद्भूत कालकूट को भगवान शंकर ने ग्रहण करके देवताओं को विपत्ति से बचाया था। सुख को अपनी व्यक्ति-सीमाओं में न बाँधकर स्वरस-मंथन भाव से जन-जन में बाँट देते हैं। निःस्वार्थ, निष्कपट, निरीह और निस्पृह भाव के साथ जीवन-लीला का विस्तार करते हुए मानवता के आदर्श की स्थापना करना ही जैसे उनके तितिक्षामय जीवन का ध्येय हो। दुर्योधन की कुचालों से पराजित होकर वन जाते समय उन्हें सिंहासन छूटने का रचमात्र भी खेद इसलिए नहीं है कि वहाँ 'कुशासन' सुलभ होगा, प्रजा का शासन छोड़कर वन में 'आत्म-शासन' का सुअवसर प्राप्त होगा।

युधिष्ठिर के मानव-भाव की प्रशंसा

युधिष्ठिर के चरित्र की महिमा का वर्णन 'जयभारत' के उन प्रमुख पात्रों द्वारा भी कराया गया है जिनके प्रति पाठक की पूज्य बुद्धि बनी हुई है। श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र और स्वयं नारायण भी उनके उदात्त चरित्र का गुणगान करते हुए उन्हें श्रेष्ठ मानव समझते हैं। द्रौपदी, भीम और अर्जुन भी धर्मराज को श्रेष्ठतम मानव मानते हुए उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में युधिष्ठिर की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए कृष्ण द्रौपदी से कहते हैं—

> 'निज साधना से अधिक नरकुल को युधिष्ठिर में मिला,
> क्या स्वर्ग में भी सुलभ यह जो सुमन धरती पर खिला।'

'तीर्थयात्रा'-प्रसंग में विलक्षण रूप में हनुमान से भीम की भेंट का वर्णन है। वहाँ हनुमान ने भीम को प्रबोधते हुए यही कहा है कि पाण्डवों का संकट क्षणिक है क्योंकि युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा सफल होगी—'यतोधर्मस्ततोजयः।'

> 'है युधिष्ठिर की गुणोपरि धर्मनिष्ठा।
> पायगा राजत्व ही उनसे प्रतिष्ठा।'

मानव-रूप में युधिष्ठिर के चरित्र का विकास क्रमिक रूप से दिखाया गया है। प्रारम्भ में उनके औदार्य, त्याग और तितिक्षा का वर्णन है। बाद में ममता, कातरता, धनासक्ति और कर्म-निमग्नता विकसित हुई है। स्वर्गारोहण

के प्रसंग का वर्णन कवि ने मानवतावाद के चरम उत्कर्ष के स्तर पर पूरी प्रौढ़ता के साथ किया है। इस सर्ग की प्रत्येक पंक्ति उनकी धर्मनिष्ठा को व्यक्त करती हुई धर्मराज को त्याग, प्रेम, समता, बन्धु-वत्सलता, सौजन्य, वैराग्य और अनासक्ति की पराकाष्ठा तक पहुँचा देती है। 'शुनकसाथी' को अपने साथ स्वर्ग ले जाने के आग्रह में जिस कोटि के निर्मल शरणागत-भाव की रक्षा हुई है वह परमात्मा के अंश की समत्वभाव से पूजा-अर्चा ही है। आत्मीयों के साथ नरकवास को आह्लाद के साथ स्वीकार करने में भी उनकी मानवता का उन्नयन ही है। धीर-प्रशान्त नायक के समस्त गुणों से उपेत युधिष्ठिर को अन्तिम सर्ग में कवि ने मानवता के जिस उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया है वह भारतीय राजर्षि का वरेण्य आसन है। तीन बार उनकी परीक्षा होती है और तीनों बार वे सहज रूप से अपना वही मार्ग ग्रहण करते हैं जो मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर स्थित एक कर्मयोगी को ग्रहण करना चाहिए। फलत. उनको तो परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती ही है किन्तु उनके साथ समस्त मानवता का पथ भी प्रशस्त होता है।

कथा का पुनराख्यान और युगधर्म की प्रतिष्ठा

गुप्तजी प्रबन्ध-पटु कवि हैं। अपनी समृद्ध कल्पना द्वारा वे प्राचीन वस्तु को जिस शैली से नवीन रूप देकर आकर्षक और सरस बनाते हैं उसका उदाहरण साकेत और यशोधरा के उन प्रसंगों में है जहाँ उर्मिला, कैकेयी, यशोधरा आदि नारी-पात्र परम्परा-प्राप्त कथानक से भिन्न रूप में मार्मिक व्यंजना करके पाठक को मुग्ध कर लेते हैं। इतिहास की अनुश्रुति में पात्रों का जो चरित्र मिलता है उसे सर्वथा भुलाकर नवीन सृष्टि नहीं की जा सकती किन्तु युग के विवेक का ध्यान रखकर अतिप्राकृत और अतिमानव-शक्ति पर आधृत घटनाओं को औचित्य के धरातल पर समन्वित किया जा सकता है। दूसरे, युग-धर्म को दृष्टि में रखकर पुरातन घटनाओं का पुनराख्यान भी आवश्यक हो जाता है। कला की पूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह पुनःसृजन या पुनर्व्याख्यान इसलिए भी करना होता है कि पुरानी कथा को ज्यों की त्यों, न तो कहने की प्रवृत्ति होगी और न पाठक उसे पढ़कर रस ग्रहण करेगा। नवनिर्माण की अपेक्षा पुनर्निर्माण की यह पद्धति कठिन है, इसके लिए प्रबन्ध-क्षमता अनिवार्य है। जो कवि प्रबंधात्मक शैली की कल्पना से रहित हो उन्हें इस फेर में न पड़ना चाहिए। गुप्तजी प्रबन्ध-कल्पना के समर्थ कवि हैं अतः वे सनातन को नूतन करने के लिए अनेक मार्मिक स्थल ढूंढ लेते हैं।

'जयभारत' में ऐसे ही कई मार्मिक स्थलों को चुन कर उनकी नवीन शैली से बुद्धिगम्य व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अपने इस कथन की पुष्टि में यहाँ तीन-चार प्रसगों का उल्लेख करता हूँ। भीम और हिडिम्बा का विवाह महाभारत की एक बहुत साधारण-सी घटना है। भीम का हिडिम्बा के प्रति आकर्षण और परिणय सामाजिक मर्यादा में अपराध-कोटि में आयगा। हिडिम्बा के प्रति, महाभारत पढ़कर, किसी प्रकार की सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती प्रत्युत उसके राक्षसी होने के कारण पाठक का मन एक विचित्र विद्रूप और विकर्षण से भर जाता है। किन्तु 'जयभारत' की हिडिम्बा राक्षसी होने पर भी सहज सुन्दरी, उदात्त गुणशील-समन्विता, बुद्धि-विवेक-परिपूर्ण नारी है। उसके हृदय की संवेदनशीलता इतनी व्यापक है कि वह अपने सम्पर्क में आने वालों को सहज ही अपने स्नेहपाश में बाँधने में समर्थ है। भीम उसे देखते ही 'देवि' सम्बोधन से पुकार उठे, किन्तु हिडिम्बा ने उत्तर में स्पष्ट कहा कि मैं 'देवि' नहीं, दानवी हूँ। राक्षसी जानने पर भीम के मन में उसके प्रति जातिगत अवज्ञा-भाव पैदा हुआ और उसके राक्षसी-रूप पर व्यंग्य करने लगे। हिडिम्बा ने भीम को जिस सन्तुलित भाषा में उत्तर देकर निरस्त किया वह गुप्तजी की कल्पना द्वारा ही सम्भव हो सकता है। भीम-हिडिम्बा का वह वार्तालाप वर्तमान युग की बौद्धिक चेतना के अनुकूल और सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं के अनुरूप है। इसी कारण आज के बुद्धिवादी पाठक को हिडिम्बा का चरित्र निर्दोष और नीति-संगत प्रतीत होती है। सच बात तो यह है कि 'जयभारत' के कवि की कलापूर्ण लेखनी के पारस-स्पर्श से ही हिडिम्बा आदर्श बन गई है। भीम द्वारा अपने भाई का वध किये जाने पर प्रतिशोध की बात न सोच कर अहिंसा के परम तत्त्व को हृदयंगम करती हुई यही कहती है :

> 'वैर को यथार्थ शुद्धि वैर नहीं प्रेम है,
> और इस विश्व का इसी में छिपा क्षेम है।'

कुन्ती के प्रति हिडिम्बा की उक्ति तो उच्चतम मानव-आदर्श की शिक्षा से ओतप्रोत है। मानव तभी सफल है जब वह अपनी पावनता से दानव का भी उद्धार कर सके।

> 'यदि तुम आर्य हो तो को हमें भी आर्यता,
> अपनी ही उच्चता में कैसी कृतकार्यता ?'

× × ×

'होकर मैं राक्षसी भी अन्त में तो नारी हूँ,
जन्म से मैं जो भी रहूँ जाति से तुम्हारी हूँ।'

हिडिम्बा ने कुन्ती के समक्ष केवल आदर्श की बात ही नहीं की वरन् युक्ति, तर्क और प्रमाण द्वारा अपनी पात्रता सिद्ध करदी । फलतः कुन्ती की क्रोड में हिडिम्बा को बधू का सम्मान मिला। इस प्रसंग के नूतन सृजन का प्रयोजन स्पष्ट है। भीम-हिडिम्बा परिणय तब तक पाठक को विधेय न लगता जब तक हिडिम्बा को रूप, गुण, शील-समन्विता नारी के रूप में अंकित न किया जाता। हिडिम्बा-चरित्र का यह नवनिर्माण केवल भीम की वासनावृत्ति का ही परिमार्जन नहीं करता वरन् इस अनमेल विवाह को सामाजिक मर्यादा में ग्रंथित करके नैतिक मान्यता भी प्रदान करता है। इस प्रसंग में गुप्तजी ने दानव और मानव की प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए तटस्थ दार्शनिक के समान जो विचार व्यक्त किये हैं वे उनके कवि-दार्शनिक रूप के द्योतक हैं।

अतिप्राकृत और अतिमानव शक्ति पर आधृत घटनाओं की विवेक-सम्मत व्याख्या भी 'जयभारत' काव्य में बड़ी वैज्ञानिक शैली से हुई है।

महाभारत के सभा पर्व में वर्णित 'द्रौपदी चीरहरण' को 'जयभारत' के कवि ने द्यूत सर्ग में युग-विवेक के आधार पर नवीन रूप से प्रस्तुत किया है। मूल कथा में कोई परिवर्तन न करके केवल अतिप्राकृत शक्ति के उपयोग को (जो आज के वैज्ञानिक और बुद्धिवादी युग में अव्यवहार्य लगता) हटाकर औचित्य की सीमा-मर्यादा में विवेक का प्रयोग किया है। व्यास ने कौरवों के पाप को रोकने के लिए पहले तो द्रौपदी के करुण क्रन्दन का वर्णन किया है, बाद में भगवान की अतिप्राकृत शक्ति के कारण द्रौपदी का वस्त्र असीम बना दिया है। उस वस्त्र-राशि को खींचते-खींचते परिश्रान्त और लज्जित होकर दुःशासन बैठ जाता है।

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः ।
तदा दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥

इसके आगे धृतराष्ट्र की आत्मग्लानि और दुर्योधन के प्रति आक्रोश वचन का महाभारत में वर्णन है। किन्तु 'जयभारत' में द्रौपदी असहाय दशा में भगवान का स्मरण करती हुई अततायी दुःशासन को धिक्कारती हुई उसके अन्तर में पाप-भीति भी उत्पन्न करती है। उसके वचन को सुनकर दुःशासन पापफल की

विभीषिका से सिहर उठता है और उसे अपने चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगता है। उसे द्रौपदी के वस्त्र के ओर-छोर का पता न रहा, वह भयभीत होकर कांपने लगा और स्तम्भित होकर वहीं बैठ गया :—

> सहसा दुःशासन ने देखा अन्धकार सा चारों ओर,
> जान पड़ा अम्बर सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर।
> आकर अकस्मात् अति भय-सा उसके भीतर बैठ गया,
> कर जड़ हुए और पद कांपे, गिरता सा-वह बैठ गया।'

इसके आगे सभा को सावधान करने के लिए कवि ने गांधारी का प्रवेश कराया है। नारी के अपमान के क्षणों में किसी वृद्धा नारी की कातर वाणी का प्रयोग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अधिक समीचीन और सामयिक है। गांधारी ने सभा में आते ही सबसे पहले अपने अन्धपति को प्रबोधा और फिर आत्मग्लानि के साथ भाई के कुत्सित आचरण के कारण अपने पितृकुल, और पुत्रों की अनैतिकता के कारण अपने पतिकुल के कलंकित होने की बात कही। अपनी अन्तर्व्यथा को चरम बिन्दु तक पहुँचाने के लिए उसने लोक लाज की दुहाई दी और कातर भाव से पुकार उठी—

> 'हाय! लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई रक्षित क्या!
> आज बहू का तो कल मेरा कटि पट नहीं अरक्षित क्या?'

निस्सन्देह गांधारी के उपर्युक्त वचनों में किसी भी नराधम को भस्त करने की, पाप-कर्म से विरत करने की अद्भुत क्षमता है। महाभारत में यह काम धृतराष्ट्र ने किया है और उसने बार-बार दुर्योधन को कोसा है। किन्तु धृतराष्ट्र की भर्त्सना में न तो इतना बल है और न श्रोताओं को सजगावनत करने की ऐसी क्षमता।

ऐसा ही एक और प्रसंग महाभारत में उस समय आता है जब अज्ञातवास के समय पाण्डव द्रौपदी सहित राजा विराट के यहाँ वेष बदल कर समय काट रहे थे। सैरन्ध्री के रूप में द्रौपदी दासी का कार्य कर रही थी। रानी का भाई कीचक द्रौपदी के रूप पर आसक्त हो गया। असहाय द्रौपदी ने आत्मरक्षा के लिए भीम की शरण ली। 'जयभारत' के कवि ने इस प्रसंग में द्रौपदी को विराट की सभा में आकर अपील करने का अवसर दिया है। उसने केवल आत्मरक्षा की अपील ही नहीं की, प्रत्युत वह राजा के शासन-धर्म

को भी ललकारती हुई उसके स्त्रैण-भाव का संकेत देकर उसे लज्जित कर गई—

> 'लज्जा रहनी अति कठिन है, कुल वधुओं की भी जहां।
> हे मत्स्यराज किस भांति तुम हुए प्रजा रंजक वहां ?'
>
> × × ×
>
> 'तुमसे निज पद का स्वांग भी भली भाँति चलता नहीं,
> अधिकार रहित इस छत्र का भार तुम्हें खलता नहीं ?'

द्रौपदी के चारित्रिक विकास में सतीत्व और निर्भीकता को उद्घाटित करने के लिए गुप्तजी की यह नूतन उद्भावना श्लाघ्य है।

पुनःसर्जन में युगादर्श का भाव

चौथा एक और प्रसंग इस विषय में उल्लेखनीय है। वह है धर्मराज युधिष्ठिर का द्रोणाचार्य को युद्ध-विरत करने के लिए असत्य-भाषण। 'अश्वत्थामा हतः, नरो वा कुंजरो वा' की उक्ति में छल और कैतव का जो अंश है युधिष्ठिर को उसके दोष से अलिप्त नहीं किया जा सकता। औचित्य और नीति की किसी भी व्यवस्था में युधिष्ठिर का यह असत्य-भाषण दोषपूर्ण ही ठहरेगा। महाभारत में गुरुभक्त अर्जुन ने क्रुद्ध होकर युधिष्ठिर की इस कार्य के लिए प्रत्यक्ष रूप से निन्दा की है। किन्तु उन निन्दा-वचनों का उत्तर देते हुए भीम ने कौरवों के छल, कपट, अनीति और अन्याय का वर्णन करके युधिष्ठिर के इस कार्य को उचित बता कर पाठक के मन को हल्का करने की चेष्टा की है। 'जयभारत' में कवि ने पाठक की भावनाओं का साथ दिया है और पाप को पाप कह कर सत्य की प्रतिष्ठा की है। पाप को पाप कहने के लिए युधिष्ठिर को वाणी का उपयोग हुआ है। पाप की मुक्तकण्ठ से स्वीकृति (कनफ़ैशन) में ही उन्हें अपनी निष्कृति दृष्टिगत हुई। इस स्वीकृति से एक ओर पाठक के क्षुब्ध मन को सान्त्वना मिली दूसरी ओर युधिष्ठिर का चरित्र और अधिक उज्ज्वल हुआ :—

> 'बोले धर्मराज भाई भीम तुम शान्त हो,
> सिद्ध नहीं होता शुद्ध साधन से साध्य जो,
> उसकी विशुद्धता भी शंकनीय होती है,
> तात, मेरा पक्षपात योग्य नहीं इतना,
> पाप जो हुआ है उसे मानना ही चाहिए।'

युधिष्ठिर-चरित्र के इस लांछन का परिमार्जन 'कनफ़ैशन' के माध्यम से युगोचित विवेक-बुद्धि की दृष्टि से संगत और शोभन है। कवि की निष्पक्ष दृष्टि में सत्य का आग्रह जिस रूप में प्रतिफलित हुआ है वह धर्मराज के अनुरूप है।

महाभारत की प्राचीन कथा के अन्तर्गत असगत या असंभाव्य प्रतीत होने वाली घटनाओं को विवेक-सम्मत बनाने तथा उनमें युगोचित सामंजस्य लाने के लिए स्थान-स्थान पर सम्बद्ध पात्रों द्वारा आत्मग्लानि एवं पश्चात्ताप प्रकट करने की मर्मस्पर्शी शैली भी अपनाई गई है। 'जयभारत' में कवि ने अपनी कल्पना द्वारा ऐसे अनेक अवसर ढूँढ निकाले हैं जब सद्वृत्त तथा दुर्वृत्त दोनों कोटि के पात्र आत्मग्लानि की आँच में तप कर पाठक की मनस्तुष्टि करने में सफल हुए हैं। महाभारत के पात्र इस प्रकार की आत्मग्लानि से संतप्त नहीं हुए फलतः वहाँ शोक और विलाप तो है किन्तु ग्लानि की पीड़ा नहीं। उदाहरण के लिए दो एक मार्मिक स्थलों का संकेत ही पर्याप्त होगा। द्रौपदी के अपमान में साझीदार होने पर कर्ण को मनस्ताप हुआ और वह अपने ऊपर खीज कर आत्मग्लानि से विगलित होकर कह उठा—

मैंने अपना एक कर्म हो अनुचित माना,
कृष्णा का अपमान, किन्तु तब क्या यह जाना,
वह है मेरी अनुज वधू, अब कहाँ ठिकाना,
इसका प्रायश्चित्त मृत्यु के हाथ बिकाना॥

दुर्योधन की अनीतिपूर्ण हठधर्मिता से खिन्न होकर धृतराष्ट्र और गांधारी अपने भाग्य को बार-बार कोसते हैं। गांधारी तो दुर्योधन-सा पुत्र पैदा करके अपनी पुत्रवत्ता को ही धिक्कारती है। यह आत्म-धिक्कार उसके अन्तर का विद्रोह है जिसे वह कृष्ण के समक्ष व्यक्त करती है।

मैं भी हूँ गोविन्द अन्ततः अबला नारी॥
पांडु सुतों को देख मुझे भी डाह हुई थी,
एक-एक पर बोस-बोस की चाह हुई थी।
दुर्योधन में विकसित हुई अनीमुख वह डाह ही।
क्या कर सकती हूँ मैं भला, भर सकती हूँ आह ही॥

कुन्ती की आत्मग्लानि तो सचमुच उसे पश्चात्ताप की वह्नि से संतप्त करके भस्म-सा किये दे रही है। कर्ण के प्रति अपराधिनी कुन्ती का स्वर अपू

विगलित होकर इतना करुण-विह्वल हो गया है कि पाठक की समवेदना एक साथ उसे क्षमा के आलवाल में घेर लेती है। कुन्ती अपने आप को नागिन कह कर कर्ण में प्रति किये गये दुर्व्यवहार को स्वीकार करती है। साकेत की कैकेयी और जयभारत की कुन्ती में आत्मग्लानि की यह समता देखकर गुप्तजी की कल्पना की सराहना करनी पड़ती है। कुन्ती का पश्चाताप शब्द-शब्द से फूटा पड़ रहा है—

> देवी नहीं, न आर्या हूँ, मैं नागिन सी जननी हूँ,
> सबसे ऊँचा पद पाकर भी, स्वयं स्वगौरव हननी हूँ।
> माँ से माँ न कहे तो कुछ भी कहे पुत्र वह गाली है,
> किन्तु दोष दूँ कैसे तुझको जो स्वकर्म गुण शाली है।

मानवतावाद की स्थापना

'जयभारत' में युगधर्म के साथ कवि ने 'मानवतावाद' की व्यापक दृष्टि-कोण से *स्थापना की है। मानवतावाद* के *विधायक तत्व समता, प्रेम, सत्य,* अहिंसा आदि का स्थान-स्थान पर विशद वर्णन किया है। मानव मात्र में उस परमात्मा का अंश देखना और जन्मगत जाति-बंधनों की अवहेलना करके सबमें समभाव से ममत्व रखना गुप्तजी के काव्य में युगीन प्रभाव की छाया है। व्यक्ति का अहंभाव ही यथार्थ में संकीर्णता की सृष्टि करके उसे सीमित बनाता है। इस 'अहं' की परिधि यदि व्यापक हो सके—एक बार अहं के भीतर समस्त समाज समा सके तो मानवतावाद का सिद्धान्त चरितार्थ हो सकता है। कृष्ण ने कौरवों को समझाते हुए कहा था—

> वह अहं हमीं हम तो नहीं, हम भी उसका अर्थ है,
> जो सबको लेकर चल सके सच्चा वही समर्थ है।
>
> ×   ×   ×
>
> 'अपना क्षेम तभी सम्भव है जब हो औरों का भी क्षेम।'

एकलव्य, कर्ण और युयुत्सु जैसे पात्रों का चरित्रांकन करते समय कवि ने इस बात का बड़ी सतर्कता से ध्यान रखा है कि जन्मगत जाति का आरोप कहीं इनके चरित्रगत गुणों को आवृत न करले। 'गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न-च लिंगं न च वयः' के आधार पर इनके व्यक्तिगत गुणों की प्रतिष्ठा में ही मानवता की प्रतिष्ठा कवि को अभीष्ट है। 'कुल से नहीं शील ही से तो होता

है कोई जन पायें'—कह कर समाज-निर्मित वर्णगत भेदभाव का परिहार किया गया है। एकलव्य ने तो स्पष्ट रूप से गुरु द्रोणाचार्य से यही जिज्ञासा प्रकट की है—

> गुरुवर नहीं अरण्यजों में क्या ईश्वर का अंश,
> और नहीं है क्या उनका भी वही मूल मनु वंश ?

अपने मानववंश की हीनता के सामाजिक लांछन की चिन्ता न करके युयुत्सु भी आत्मा की एकता में विश्वास प्रदर्शित करता हुआ यही कहता है कि जन्मगत जाति-दोष मिथ्या है :—

> "यदि है यह दोष जन्मकृत है, आत्मा से कौन अनावृत है,
> होता प्रवीर से कज्जल क्यों, कर्दम से शत-सहस्रदल क्यों।"

मानवतावाद के विरोधी तत्त्वों का संकेत

मानवतावाद की प्रतिष्ठा करते हुए कवि के अन्तर्मन पर उन विरोधी शक्तियों का प्रभाव सतत बना रहा है जो मानव-मानव के बीच वैर-विद्वेष की खाई खोद कर उन्हें मनुष्यता की समतल भूमि पर खड़े होने नहीं देतीं। युद्ध-लिप्सा और राज्यलोभ इन विरोधी शक्तियों के प्रतीक हैं। आज के युग में यह युद्धलिप्सा अपनी विकरालता में इतनी भयावह हो उठी है कि मानव के समस्त प्रयत्न, ज्ञान-विज्ञान प्रसूत अभिनव आविष्कार उसे सर्वनाश के पथ पर खींचे लिए जा रहे हैं। सृष्टि की सुन्दरतम रचना-मानव-आज अपने ही बौद्धिक निर्माण से नृशंस दानव बन कर संहार के बीज बो रहा है। कवि की ऐसे मानव के प्रति जो मर्म है उसे व्यंग्यमयी भाषा में व्यक्त किया गया है। द्रौपदी के अपमान की बात सुनकर घटोत्कच कहता है—

> "हाय मैं कुत्सित असभ्य दानवों से,
> हम निशाचर ही भले तुम मानवों से।"

मानव की निरीहता पर व्यंग्य करती हुई हिडिम्बा कहती है—

> "देवों की अपेक्षा वंश हमने निकृष्ट हैं,
> पर तो निरीहता में दोनों से विशिष्ट हैं।"

स्वार्थरत मनुष्य की विध्वंस-भावना पर युधिष्ठिर की यह मार्मिक उक्ति भी कम व्यंग्य-भरी नहीं है—

"हाय जल से भी मनुज कुल आज पिछड़ा,
जल मिला जल से, मनुज से मनुज बिछड़ा।"

मानव की युद्धलिप्सा की निन्दा करते हुए कवि ने 'युद्ध' सर्ग में जो विचार व्यक्त किये हैं उन पर गाँधीवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। मनुज में युद्ध-लिप्सा दनुज के रक्तबीजका द्योतक है और मनुष्य की मनुष्यता क्या अमानुषिकतामें ही है? स्वर्गारोहणके समय पांडवों ने शस्त्रों को निस्सार समझ विसर्जित कर दिया था। पांडव शस्त्रों की अनर्थकारी शक्ति से पूर्णतया अवगत हो गये थे। किन्तु खेद! मानव-जाति की युद्ध-प्रियता ने क्या शस्त्रों को रसातल में जाने दिया? अपार धन-राशि व्यय करके आज भी मानव शस्त्र-निर्माण-लीन है। युद्ध के दुष्परिणामों का वर्णन करते हुए कवि ने करुण और वात्सल्य भाव की भूमि पर जो सुन्दर व्यंजना की है वह युद्ध की निस्सारता, भीषणता और अनर्थता को प्रत्यक्ष मूर्तिमान कर देती है:—

"बैठ जिन कंधों पर शैशव में खेले थे
काट डाला यौवन में आप उन्हें क्रूरों ने
कंधों पर जिन्हें चढ़ाये फिरे प्यार से
करके हताहत गिराया उन्हें धूलि में,
धिक्! यह घोर कर्म, शर्म कहाँ इसमें
धिक्! नर नागरों के अर्थ की अनर्थता॥"

भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों का उन्मेष

'जयभारत' भारतीय संस्कृति के उन आदर्शों का व्यावहारिक चित्र प्रस्तुत करता है जो सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओं की परम्पराओं को चुनौती देकर व्यक्ति विशेष के आचरण से स्थापित होते हैं। महाभारत को यथार्थवादी कोटि का काव्य इसलिए कहा जाता है कि उसमें कोरी सनातन शास्त्र-मर्यादा का आग्रह न हो कर यथार्थ जीवन के कर्तव्य-कर्म का अनुरोध है। यह होते हुए भी गुप्तजी ने अपनी सांस्कृतिक विचारधारा को उसी शैली से व्यक्त किया है जैसे उन्होंने 'साकेत' और 'यशोधरा' में वैष्णव धर्म की पृष्ठभूमि पर किया था। समाज, देश, जाति, नारी, पाप, पुण्य, धर्म-अधर्म, आदि विषयों पर जो भाव प्रकट किये हैं उनमें मौलिक विचार प्रायः एक से ही हैं। भारतीय नारी के सम्बन्ध में उनकी जो मान्यता और पूज्य बुद्धि रही है उसको

जयभारत में और अधिक स्पष्ट रूप में अंकित किया है। भवना जीवन की कहानी कहते हुए यशोधरा में जो चित्र अंकित किया है ठीक वैसा ही यहाँ भी मिलेगा—

> "नारी लेने नहीं लोक में देने ही आती है
> प्रथम दोष रखकर वह उनसे प्रभु-पद पा जाती है,
> पर देने में विनय न होकर वहाँ गर्व होता है
> तपस्त्याग का पर्व हमारा वहीं खर्व होता है ॥"

भारतीय परिवार-संस्था, विवाहप्रथा, दाम्पत्यभाव की मर्यादा, गृहस्थाश्रम में एकलावय की मांगलिक परिणति, आदि सामाजिक विषयों पर 'जयभारत' में जो विचार कवि ने प्रकट किये हैं उनका मूलाधार भारतीय जीवन-दर्शन ही है।

जयभारत का प्रतिपाद्य विषय और मुख्य रस

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से 'जयभारत' की समीक्षा करते हुए उसके भाव-पक्ष पर ऊपर की पंक्तियों में जो कहा गया है वह ध्यान देने योग्य है। रस-निष्पत्ति, अलंकार-विधान, छन्द-योजना आदि विषयों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जा सकता है। चरित्र-चित्रण, रूपवर्णन, दृश्यांकन आदि भी इस प्रसंग में उल्लेख्य समझे जायेंगे। किन्तु प्रस्तुत निबंध के सीमित कलेवर में इन सब विषयों का सविस्तर समावेश सम्भव नहीं, अतः मैं यहाँ कुछ विशिष्ट तथ्यों का ही संकेत मात्र करूँगा।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में लिखा है कि 'जयभारत' विभिन्नकाल की रचनाओं का संकलन होने से राष्ट्रकवि का प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसमें उनके कवि-कृतित्व को पूर्णता प्राप्त हुई है। भाषा, भाव और शैली सभी में समानता न होकर स्पष्ट परिलक्षित होने वाली भिन्नता और विविधता है अतः समग्र भाव से इन तथ्यों पर एक साथ विचार नहीं किया जा सकता। महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'धर्म की जय' और मुख्य रस शान्त है। 'जयभारत' में भी शान्त रस की ही मुख्यता है, अन्य रस उसके अंग बनकर आये हैं। प्रतिपाद्य विषय मानव की श्रेष्ठता और मानव-प्रतीक धर्मराज युधिष्ठिर की जय है। युधिष्ठिर 'जयभारत' का धीर-प्रशान्त नायक है। युधिष्ठिर के प्रकृतिजन्य क्रिया-व्यापारों के बीच निवृत्ति की जो अन्तःसलिला धारा प्रवाहित हो रही है वही

निर्वेद को सींचती है। आजीवन कर्त्तव्यरत रह कर जीवन की अन्तिम घड़ियों में सब कुछ छोड़कर जब पांडव हिमालय पर्वत पर देहपात के लिए चले तब उनके अन्तस् में केवल ही शांत रस था–'रख एक शान्त रस अन्तस् में विषसा विषयोंको त्याग चले।' स्वर्गारोहण सर्ग में जिस निर्लिप्त भाव से युधिष्ठिर की चित्तवृत्ति स्वर्ग और नरक को ग्रहण करती है वही शमभाव—निर्वेद की सर्वोच्च स्थिति है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से काव्य में कवि का पूर्वग्रह स्पष्ट परिलक्षित होता है। जिन पात्रों का चरित्र महाभारत में हेय और तिरस्कार योग्य है उसे भी गुप्तजी ने किसी न किसी प्रकार उठाने की चेष्टा की है। द्रौपदी का चरित्र बहुत ही ऊर्जस्वित और प्राणवान रखा है। दुर्योधन को अन्तिम क्षणों में एक ऐसी भाव-भूमि पर कवि ने खड़ा कर दिया है कि उसमें दुर्द्धर्षता के होने पर भी दर्शक या पाठक को मुग्ध करने की शक्ति आ गई है। दुःशासनको भी मातृभक्ति से परिपूर्ण कर दिया गया है। कर्ण और अर्जुन के चरित्रों में उदात्त गुणों का आधान किया गया है। चरित्र-चित्रण का मूल मानवतावाद का आदर्श है अतः दुर्वृत्त पात्रों में गुप्तजी ने अपनी काव्य-प्रतिभा से गुणों का सधान कर लिया है। युधिष्ठिर, द्रौपदी, हिडिम्बा और कर्ण इस काव्य के सुन्दर चरित्र हैं जिनके चित्रण में कवि को अपूर्व सफलता मिली है।

रूप-सौंदर्य का अंकन

रूपवर्णन और दृश्यांकन की दृष्टि से काव्य में अनेक सुन्दर, सजीव और आकर्षक स्थल हैं जिन्हें पढ़ते ही नेत्रों के सामने मनोरम व्यक्ति या दृश्य खचित हो जाता है।

एकलव्य का रूप वर्णन—

"कसी गंसी थी मांसपेशियाँ, श्यामल चिकना चर्म,
बना आप ही था जो अपना जन्मजात वर वर्म।
भाल ढका सा था बालों में, ढाल बना था वक्ष,
धर्षित भी भुजदंडों से थे उत्कर्षित युग कक्ष।
कर में धनु था भ्रू अधरों पर भी रखते था वह चाप,
दृष्टि प्रखर थी किन्तु मृदुल था उसका सरसालाप।"

हिडिम्बा-सौंदर्य वर्णन—

> "उदित वसुन्धरा रत्नों की सारिका थी,
> किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती रसिका थी।
> अंग मानो फूल, कच भृंग, हरीशाटिका,
> कर-पद-पल्लवा थी, जंगम सी वाटिका।"

श्रीकृष्ण का वर्णन 'रणनिमन्त्रण' सर्ग में प्राचीन परम्परा युक्त अलंकार शैली में किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों की छटा दर्शनीय है। प्रकृति-वर्णन के भी दो-तीन स्थल पठनीय हैं।

भाषा पर संस्कृत का प्रभाव

भाषा के सम्बन्ध में केवल एक बात का ही उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। महाभारत की प्राचीन कथा पर आधृत होने पर भी 'जयभारत' में संस्कृत श्लोकों का अनुसरण नहीं किया गया। किन्तु कहीं-कहीं संस्कृत की सूक्ति और सुभाषितों को अनूदित करने का लोभ कवि संवरण नहीं कर पाया है। अपने इस कथन की पुष्टि में कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत करता हूँ :—

> १—भोगने से कब घटे हैं रोग क्यों राग,
> और बढ़ती है निरन्तर ईंधनों से आग।

> संस्कृत—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते॥

> २—विविध श्रुति स्मृतियाँ कल्याणी,
> भिन्न भिन्न मुनियों की वाणी,)
> गूढ़ धर्म गति, पूछूँ किससे,
> पथ वह जाये महाजन जिससे।

> संस्कृत—श्रुतिर्विभिन्नाः स्मृतयोर्विभिन्ना,
> नैको मुनिर्यस्यमतं न भिन्नम्।
> धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां।
> महाजनो येन गतः स पन्थः॥

३—एक स्वजन को त्याग करे कुल कष्ट निवारण,
प्राम हेतु कुल तजे, प्राम जनपद के कारण,
जनपद जगती सभी तजे आत्मा के हित में।

संस्कृत—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

४—पर आत्मरक्षा इष्ट है,
धन से तथा दारादि से भी सर्वथा।

सस्कृत—आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि।

कवि की सूक्तियाँ

संस्कृत के सुभाषित वाक्यों के अतिरिक्त कवि के अपने वाक्य विन्यास भी ऐसे हैं जो सूक्ति कोटि में आते हैं। जिनकी भाव व्यंजना इतनी सीधी, सरल और अर्थपूर्ण है कि उन्हें टकसाली बनने में देर नहीं लगेगी। यदि इस तरह की सुन्दर सूक्तियों का संकलन किया जाय तो उनकी संख्या शताधिक होगी। उदाहरणार्थ दो-चार सूक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

१—मिलना ही आनन्द बिछुड़ना खेद है,
पुनर्मिलन ही इष्ट जहाँ विच्छेद है।

२—रस के विरल बूंद ही अच्छे अधिक भोग में रोग है।

३—होता सदा है मानियों को मान प्यारा प्राण से।
यश के धनी हैं जो उन्हें अपयश कराल कृपाण से॥

४—कीर्तिमान जन मरा हुआ भी अमर हुआ जग में जीत।

५—निराश तो जीवित ही मरा है,
उत्साह ही जीवन का प्रतीक।

अलंकारों की दृष्टि से इस काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, और रूपक की प्रधानता है। उपमा को इस काव्य का प्रमुख अलंकार कहा जा सकता है। छन्दों की विविधता से तो काव्य भरा हुआ है। प्रत्येक सर्ग में नया छन्द ग्रहण किया गया है। मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग है। 'युद्ध' सर्ग मुक्त छन्द का सुन्दर निदर्शन है।

महाभारत और जयभारत

महाभारत को संस्कृत साहित्य में 'पंचमवेद' की संज्ञा दी गई है। ज्ञान-विज्ञान की व्यापक परिधि को घेर कर व्यास मुनि ने उसकी वस्तु का विस्तार किया है। सामान्य लौकिक व्यवहार-नीति से लेकर पारलौकिक चिन्तन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों पर दार्शनिक दृष्टि से महाभारत में विचार-विमर्श हुआ है। किन्तु 'जयभारत' में न तो वैसी व्यापकता है और न गूढ़ता। गंभीर विषयों का जहाँ कहीं प्रसंग आया है कवि ने उसे शास्त्रीय-विमर्श की कोटि तक न पहुँचा कर बौद्धिक मंथन तक ही सीमित रखा है। मेरे कहने का तात्पर्य यह न समझा जाय कि जयभारत में गूढ़ विषयों पर विचार व्यक्त नहीं किये गये किन्तु उन्हें शास्त्रीय रूप नहीं दिया, यही मुझे अभीष्ट है। वस्तु, पात्र, रस और उद्देश्य में जयभारत की महाभारत से समानता है। परिधि-विस्तार को सीमित रखने के कारण वस्तु की काट-छाँट करके त्याग बहुत अधिक करना पड़ा है। जयभारत के कवि ने न तो महाभारत की कथा का आनुपूर्वी अनुकरण किया है और न पर्वों के विभाजन की शैली को अपनाया है। स्वतन्त्र रूप से खण्ड कथा की शैली में लिखे गये विभिन्न प्रसंगों को बाद में महाकाव्य के शरीर में संग्रथित किया गया है अतः एक सर्ग का दूसरे सर्ग से आकांक्षा-परक सम्बन्ध नहीं है। सभी सर्ग स्वतंत्र और एक तरह से अपने में पूर्ण हैं। औत्सुक्य की दृष्टि से यह बात महाकाव्य में त्रुटि ही समझी जायगी। महाभारत में पाठक का औत्सुक्य और कथा की आकांक्षा सतत बनी रहती है। क्षेपक और अवान्तर कथा-प्रसंगों के होते हुए भी उसमें पाठक समग्र कथा-वस्तु को साथ लेकर आगे बढ़ता है। जयभारत में यह सम्बन्ध प्रारम्भ के तीन सर्गों में तो कुछ जुड़ता है बाद में सभी प्रकरण स्वतंत्र हो जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्पूर्ण काव्य को पढ़ने के बाद महाभारत की—कौरव-पांडवों की—मूल कथा का व्यापक बोध हो जाता है।

एक बात और। महाभारत का आख्यान इतना समृद्ध, विशाल, शक्तिशाली और विस्मयमय है कि गुप्तजी, सदृश प्रबन्ध-काव्य की प्रतिभा वाले कवि से उसके पृष्ठाधार पर महाकाव्य लिखते समय अधिक प्रांजल, प्रौढ़, गम्भीर, शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण रचना की आशा करना स्वाभाविक है। भारत के तत्कालीन सांस्कृतिक संघर्ष का यथार्थ की भूमि पर जैसा सजीव वर्णन व्यास ने किया, वैसा जयभारत में नहीं है। 'जयभारत' का कवि उसका आभास दे सका, यही उसकी सफलता समझी जानी चाहिये। युगादर्श, युगधर्म और

युगोचित विवेक की रक्षा करने में भी कवि पूर्ण सफल हुआ है। पुरातन कथा का नवनिर्माण करने में उसने सद्धर्म की जय को ही प्रतिष्ठित किया है किन्तु धर्म की प्रतिष्ठा भगवान् के प्रयत्न से न होकर मानव (युधिष्ठिर) के प्रयत्न से हुई है।

महाभारत और रामायण हमारी पैतृक सम्पत्ति हैं। इस सम्पदा का उपयोग करने का उत्तराधिकार हमें वंश-परम्परा से उसी तरह प्राप्त है जैसे बपौती का स्वत्व बेटे को सहज ही में मिल जाता है। यदि श्रीकृष्ण के द्वारा 'जयभारत' में धर्म-रक्षा की जाती तो नर का गौरव आज हमारे सामने न होता, नारायण की पूजा में ही हमारी समस्त शक्ति दीप हो जाती। कदाचित् इसीलिए कवि ने धर्म की प्रतिष्ठा का भार नर के कंधों पर रखकर उसके नरत्व को ऊँचा ही नहीं बनाया वरन् उसके महत्व को गौरव-गरिमा से दीप्तिमान-आलोकित भी कर दिया है।

'जयभारत' में कवि ने चरित्र-चित्रण में कुछ अधिक स्वतन्त्रता से काम लिया है इसलिए महाभारत के पात्रों की आत्मा के अक्षुण्ण रखते हुए भी उनके रूप में कहीं-कहीं परिवर्तन दृष्टिगत होता है। महाभारत के चरित्र जिस सहज भाव से जीवन के राग-द्वेष, सुख-दुख, पाप-पुण्य, को स्वीकार करके अपनी गतिविधि का परिचय देते हैं उतनी सहजता हमें 'जयभारत' के पात्रों में नहीं दिखाई देती। एक प्रकार की जागरूक सतर्कता, बौद्धिकता और विवेक-परायणता से अनवरत उद्बुद्ध ये चरित्र जिस विकास-पथ का अनुगमन करते हैं उसका सूत्र कवि अपने हाथ में रखता है। पाठक को वह उन्हें तब सौंपता है जब उसके वांछित चरित्र-गुण उनमें (पात्रों में) उभर आते हैं। कवि की यह सृष्टि पाठक के लिए सदैव आनन्दमयी हो यह आवश्यक नहीं है। किन्तु गुप्तजी जैसे प्रबुद्ध कवि की कलम विवेक का सन्तुलन नहीं खोती इसी कारण उनकी पात्र-सृष्टि भी सदा पाठक को मुग्ध किये रहती है। पात्रों के उन्नयन की प्रक्रिया बौद्धिक होने पर भी कहीं तर्क-हीन नहीं है इसीलिए संवेदनशील पाठक उनमें रम जाता है। किन्तु उन्नयन की अनिवार्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा सकता है। महाभारत में सभी प्रमुख पात्रों के चरित्र विकास की चरम सीमा तक पहुँचे हैं किन्तु 'जयभारत' में युधिष्ठिर ही एक ऐसा पात्र है जो सभी दृष्टियों से पूर्णता पा सका है। शेष सभी चरित्र अर्द्धविकसित रह गये हैं। स्त्री पात्रों में द्रौपदी के चरित्र को उदात्त और दुर्द्धर्ष बनाने में कवि को सफलता मिली है, द्रौपदी के प्रति कवि ने अतिशय औदार्य रखा है और उसे स्त्री रूप का आदर्श

बनाना चाहा है। हिडिम्बा एक ही सर्ग में वह सब-कुछ देकर धन्यता की भागी बन जाती है जो द्रौपदी को दीर्घ संघर्ष के बाद उपलब्ध हुआ है। भीष्म और श्रीकृष्ण के चरित्र अपने तेज, बल, पराक्रम, और शक्ति की दृष्टि से सर्वथा अप्रस्फुटित हैं।

शान्ति पर्व की अवतारणा न करके कवि ने उस विषय को छोड़ ही दिया है जो महाभारत की चिन्ता-धारा का स्रोत है। शान्ति पर्व की विवेचन-पद्धति जयभारत में नहीं है—कथा भी दो-तीन पंक्तियों में कह दी गई है। शान्ति पर्व की धर्म-नीति और राष्ट्र-नीति कवि को क्योंकर आकृष्ट न कर सकी यह आश्चर्य का विषय है। शान्ति पर्व भारतीय जीवन-दर्शन का एक ज्वलन्त पक्ष प्रस्तुत करता है, उसकी पीठिका पर गुप्त जी सदृश नीतिवादी समर्थ कवि सुन्दर भाव-विधान कर सकता था। पाठक को यह त्रुटि इस काव्य में सबसे अधिक खटकने वाली प्रतीत होती है। इन त्रुटियों के रहते हुए भी 'जयभारत' के मूल ध्येय को पाने में कवि सफल हुआ है। अन्तिम सर्ग में कवि ने 'जयभारत' 'जय जय भारत' और 'जय जय जय भारत' कहकर तीन बार युधिष्ठिर की जय का ही उद्घोष किया है। यह जयनाद युधिष्ठिर की जय के रूप में मानव की जय का प्रतीक है। काव्य और कवि कर्म की पूर्णता की दृष्टि से जयभारत में 'युद्ध' और 'स्वर्गारोहण' प्रकरण ही गुप्तजी के यश को चिरस्थायी बनाने के लिए पर्याप्त हैं। युद्ध सर्ग में मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों का अन्तर्द्वन्द्व और स्वर्गारोहण सर्ग में मानव की उत्कर्ष-स्थापना का जो रूप परिलक्षित होता है वह क्रमशः लोक (मर्त्य) और परलोक (स्वर्ग) की कल्पना से भली भाँति मेल खाता है। युद्ध सर्ग पर काव्य को समाप्त करने पर भी मर्त्यलोक के संघर्ष-द्वन्द्व का चित्र पूरा हो जाता, किन्तु स्वर्गारोहण पर समाप्त करने पर लोक-परलोक दोनों की पूरी झांकी कथा के उपसंहार के साथ सामने आती है।

संक्षेप में, 'जयभारत' राष्ट्रकवि के अर्द्धशताब्दि के साहित्यिक अनुष्ठान का क्रमिक विकास प्रदर्शित करता हुआ उनके कवि-कृतित्व को पूर्णता पर पहुँचाने वाला महाकाव्य है। राष्ट्रकवि के कृतित्व का समग्र रूप में यदि एक ही रचना में परिचय पाना हो तो 'जयभारत' को ही प्रतिनिधि रचना के रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

मार्च, १९५४।

: ६ :

'उत्तरा' में पन्त का अध्यात्मवाद

'उत्तरा' कविवर पन्त की अभिनव काव्य-कृति है। मनन और चिन्तन के ऐक्य-सूत्र में आबद्ध भावपूर्ण स्फुट कविताएं इस संग्रह में संकलित हैं। अधिकांश कविताओं में चिन्तन-प्रधान अध्यात्मवाद को—जो प्रायः दर्शन-क्षेत्र का विषय माना जाता है—गीति-काव्य की सरस एवं मनोरम शैली से प्रस्तुत किया गया है। इन कविताओं में जो भाव-सामग्री कवि ने संकलित की है, उसमें किसी शास्त्रीय परम्परा-मुक्त सिद्धान्त चर्चा का आग्रह न होकर एक नूतन दृष्टि-बिंदु से आध्यात्मिक भाव की स्थापना की गई है। इस नूतन विचार-धारा का उद्गम-स्रोत कहाँ है—यह जानने के लिये कवि की जगत् और जीवन-विषयक मान्यताओं का विश्लेषण आवश्यक है।

चिर अतीत से रूढ़ आध्यात्म-भावना के क्षेत्र, गूढ़-गहन दार्शनिक ग्रंथ या ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा ऋषि-मुनि माने जाते रहे हैं। ध्यान, धारणा, समाधि आदि उनके साधन और ब्रह्म-प्राप्ति उनका साध्य है। 'उत्तरा में अध्यात्मवाद' शीर्षक देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या 'उत्तरा' में वर्णित अध्यात्मवाद भी ब्रह्म-विद्या की ही मीमांसा है या वह किसी निगूढ़

दार्शनिक तत्त्व या सैद्धान्तिक मतवाद की पुष्टि करने वाला काव्य है ? उत्तर में निवेदन है: नहीं। 'उत्तरा' का अध्यात्म तत्त्व न तो किसी शास्त्रीय दार्शनिक सिद्धान्त का प्रत्यक्ष में पोषक है और न वह प्रच्छन्न रूप में किसी साम्प्रदायिक धार्मिकता में विश्वास रखता है। उसका विषय मानवात्मा के विकास से सम्बद्ध होने पर भी आत्मा की औपनिषदिक व्याख्या करना नहीं है। स्वस्थ मानव-विकास के सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर कोई भी जागरूक साहित्यिक भाज ऐसे सूक्ष्म पारलौकिक विषय-वर्णन से ही परितुष्ट नहीं हो सकता, जो इस लोक की स्थूल एवं प्रकृत समस्याओं की सर्वथा अवहेलना करके हमें उस लोक की झाँकी दिखावे जो हमारी भावना या अनुभूति में कम और कल्पना में अधिक रहता है। युग-संस्कृति और युग-चेतना की उपेक्षा करके कोई भी कलाकार अध्यात्म-पथ को प्रशस्त नहीं कर पाता। 'उत्तरा' का क्रान्तदर्शी कवि इस तथ्य से पूर्णतया अभिज्ञ है, इसलिये युग-चेतना की सुदृढ़ भूमि पर पाँव जमाकर ही अध्यात्म के पथ पर चला है। दार्शनिक अद्वैतवाद या ब्रह्म-चिंतन की परिपाटी से तथाकथित अध्यात्मवाद का पोषण उसका ध्येय नहीं है। अपने गीतों के शीर्षकों में ही उसने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है। विषयानुरूप शीर्षकों के चयन से ही कवि अपनी मौलिकता की छाप डालकर स्वाभिप्राय की ओर इङ्गित कर देता है।

'उत्तरा' में पन्त जी ने जिस प्राकृत अध्यात्म भाव को ग्रथित किया है उसके उपादान क्या है ? किन विचारात्मक उपादानों को लेकर उन्होंने काव्य-सृष्टि की है ? इस प्रश्न का उत्तर हम स्रष्टा के शब्दों से प्रारम्भ करें तो बात को साफ़ तौर से प्रस्तुत करने में आसानी होगी। 'उत्तरा' के प्रवचन में कवि ने भूमिका रूप में जिन शब्दों को बाँधा है वे कवि के उत्तरा-गत दृष्टिकोण एवं काव्य-चेतना को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं कहे जा सकते—कारण उन शब्दों में परिष्कार या स्पष्टीकरण की वह ध्वनि प्रबल हो गई है जो प्रतिवाद की भावना से अनुप्राणित होती है। [जब लेखक स्वयं वादी की स्थिति से हटकर प्रतिवादी बन जाता है, तब स्वभावतः उसे या तो परिष्कार का आश्रय लेना पड़ता है या वादी के आक्षेपों के निराकरण की इच्छा में स्वमन्तव्य की स्थापना करनी होती है। 'उत्तरा' की भूमिका में पंत जी की स्थिति लगभग ऐसी ही है।]

फिर भी, जो विचार प्रस्तावना में व्यक्त किये गये है उनकी प्रामाणिकता इस दृष्टि से अपरिहार्य है कि वे अपनी कृति के सम्बन्ध में 'कर्त्ता' या स्रष्टा के

अपने विचार हैं। पन्तजी ने अपनी नवीन रचनाओं का ध्येय 'युगचेतना को अपने यत्किंचित प्रयत्नों द्वारा वाणी देना'—कहा है। वे युग की प्रगति की धाराओं का क्षेत्र वर्ग-युद्ध की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व मानते हैं। उनका विश्वास है कि "युग-पुरुष को पूर्णत. सचेष्ट करने के लिये लोक-सगठन के साथ गाधीवाद की पीठिका बनाकर यदि मन संगठन (संस्कार) का भी अनुष्ठान उठाया जाय और मनुष्य की सामाजिक चेतना सस्कृति) का विकसित विश्व-परिस्थितियों के अनुरूप नवीन रूप से सक्रिय समन्वय (?) किया जाय तो वर्तमान के विक्षोभ के आर्त्तनाद तथा क्रान्ति की क्रुद्ध ललकार को लोक-जीवन के सगीत तथा मनुष्यता की पुकार में बदला जा सकता है।" आगे वे फिर उसी अटल विश्वास के स्वर में कहते हैं कि 'इस युग के क्रान्ति-विकास, सुधार-जागरण के आन्दोलनो की परिणति एक नवीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में होना अवश्यम्भावी है, जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन, मन के सम्पूर्ण स्तरों का रूपान्तर कर देगी तथा विश्व-जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदलकर सामाजिक सम्बन्धो को नवीन अर्थ गौरव प्रदान करेगी। इसी सांस्कृतिक चेतना को मैं अन्तर्चेतना या नवीन सगुण (?) कहता हूँ।" पन्त जी जनवाद को बाह्य रूप में ही न देखकर उसे भीतरी मानव-चेतना के रूप में भी देखते हैं और जनतन्त्रवाद की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही वे 'अन्त-र्चेतनावाद' अथवा 'नवमानववाद' कहते हैं। दूसरे शब्दों में—जिस विकास-वादी चेतना को हम सघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातन्त्रवाद के नाम से पुकारते हैं, उसी को ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर (पन्तजी) *अन्तर्चेतना एवं* 'अंतर्जीवन' कहते हैं। उनकी स्थापना है कि वर्तमान युग के जड़ तथा चेतन का संघर्ष इसी अन्तर्चेतना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप में सामंजस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा। मार्क्सवाद में विश्वास करने वाले यदि वर्गहीन समाज की कल्पना कर सकते हैं तो साथ ही साथ पंत जी 'मानव-महत्ता के विधान की भी नवीन चेतना के रूप में परिणति सम्भव समझते हैं।' उनका परितोष राजनीतिक *सामाजिक या आर्थिक (सुधार-जागरणों के* आन्दोलन) तक ही सीमित नहीं, उनका तो विश्वास है कि इन समस्त बाह्य (समतल) आन्दोलनों और वादात्मक क्रान्तियों की चरम परिणति एक व्यापक सांस्कृतिक चेतना के रूप होना अवश्यभावी है। इस सांस्कृतिक चेतना के मूल में सूक्ष्म मनस्तत्त्व के व्यापक भाव और अन्तःजीवन के विकासबीज विहित हैं। सक्षेप में, इन्हीं बीजों को हम उनके अध्यात्म-वृक्ष के बीज कहते हैं।

के लिये संसार में एक व्यापक 'सांस्कृतिक आन्दोलन' को जन्म लेना होगा, जो मानव-चेतना के राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय सन्तुलन तथा सामजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा। भविष्य में मनुष्य के आध्यात्मिक तथा राजनीतिक संचरण—प्रचलित शब्दों में धर्म, अर्थ, काम—अधिक समन्वित हो जायेंगे और उनके बीच के व्यवधान मिट जायेंगे।"

'उत्तरा' के प्रथम गीत में ही कवि ने इस परिवर्तन की ओर इंगित करके *बहिर्जगत्* के *विस्तार* और *अन्तर्जीवन* के *विकास की कामना व्यक्त* की है :—

'बदल रहा अब स्थूल धरातल, परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल,
विस्तृत होता बहिर्जगत् अब, विकसित अन्तर्जीवन अभिमत।"

'निर्माणकाल' शीर्षक गीत में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है :—

यह रे भू का निर्माण काल हँसता नवजीवन अरुणोदय,
ले रही जन्म नव मानवता अब खर्व मनुजता होती क्षय।'

उपर्युक्त भाव को ध्वनित करने के लिये कवि ने अनेक कविताएं लिखी हैं। 'युग-विषाद' 'युग छाया' 'युग-सघर्ष' 'जागरण-गान' 'गीत विहग', 'उद्बोधन' आदि कविताओं में जन्म लेती हुई जिस नव-मानवता की ओर कवि ने सकेत किया है उसकी पृष्ठभूमि में आध्यात्मिकता का गंभीर पुट है। उसको हृदयगम करने के लिये सहृदय को वैसे ही मानव-आवेष्टन की आवश्यकता है जैसे आवेष्टन में कवि ने उसे अंकित किया है। इसके साथ ही एक बात और ध्यान में रखनी होगी कि इनमें एक प्रकार का उच्च कोटि का मानसिक अध्याहार भी है उसे ग्रहण किये बिना कविता को अन्तस्तल पैठना सम्भव न होगा। जडवादी भौतिकता का आधिक्य अग्राह्य है; उसे दूर करके ही चेतना का स्वस्थ विकास सम्भव है :—

भौतिक द्रव्यों की घनता से चेतना भार लगता दुर्वह,
भू जीवन का आलोक ज्वार युग मन के पुलिनों को दुःसह।
चेतना पिंड रे भू गोलक युग युग के मानस से आवृत,
फिर तप्त स्वर्ण सा निखर रहा वह मानवीय मन सुर सेवित।

अपनी इस आध्यात्मिक भावना के प्रसङ्ग में कवि ने जिन विषयों का सूक्ष्म

रूप में वर्णन किया है, वे हैं मानवतावाद, आदर्शवाद, आस्तिकवाद, अतीत प्रेम, रूढ़ि और अन्धविश्वासों के प्रति विद्रोह, तथा प्रकृति के कतिपय रमणीय रूप।

'मानववाद' का पोषण पंत जी की रचनाओं में बहुत प्रारम्भ से दृष्टिगत होता है, उनके वर्णन में उन्होंने पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विचारों का सुन्दर समन्वय किया है। पाश्चात्य देशों में युद्ध-संघर्ष से संत्रस्त कलाकारों ने विश्व बन्धुत्व की पुकार मचाई, उसकी प्रतिध्वनि हमारे देश में गूंजी और काव्य का विषय बनी। पंत ने उस ध्वनि का अनुकरण मात्र न करके उसमें माधुर्य का सचार किया। 'मनोमय' शीर्षक कविता में मन की प्रकृत दशा को अंकित करते हुए मानवता में कवि भव-विकास देखता है :—

मानव अन्तर हो भू विस्तृत नव-मानवता में भव विकसित।
जन मन हो नव चेतना प्रथित, जीवन शोभा हो कुसुमित हे फिर क्षिति क्षण में !
तुम देव बनो चिरदया प्रेम जनमन में, जग-मंगल हित हे !'

सार्वभौम मानवतावाद की स्थापना के बाद संसार में जाति, धर्म, वर्ग ऊँच-नीच आदि के समस्त भेद तिरोहित हो जाते हैं। किन्तु क्या ऐसे मानवतावाद की स्थापना स्वप्न की सीमाओं को छोड़ कभी सत्य भी बनेगी ? 'उत्तरा' का आशावादी कवि इसका वर्णन ऐसे करता है जैसे वह उसे 'हस्तामलकवत्' स्पष्ट देख रहा है।

> 'तुम क्या रटते थे, जाति, धर्म, हाँ वर्ग युद्ध, जन आन्दोलन,
> क्या जपते थे, आदर्श नीति—वे रक्तवाद अब किसे स्मरण !'

मानववाद' के सिद्धान्त में विश्वास करने पर 'मानव-ऐक्य' की ही भावना सुदृढ़ नहीं होती वरन् मानव के देवत्व रूप में भी विश्वास उत्पन्न होता है। वह देवत्व अलौकिक न होकर लौकिक है—गांधी के रूप में देवत्व का विकास मानव का ही रूप है।

> 'अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त देवत्व रहा रे शनै. निखर,
> भू मन की सोपान श्रृंखला स्वर्ग फिर विचरण करने को भू पर !'
>
> × × ×
>
> 'देवों को पहना रहा पुनः मैं स्वप्न मांस के मर्त्य वसन,
> मानव आनन से उठा रहा अमरत्व हठी का अवगुण्ठन !'

उपर्युक्त उद्धरणों को पढ़कर यह नहीं कहा जा सकता कि पंत जी का 'मानवतावाद' पाश्चात्य देशों का अनुकरण है। उसमें एक ऐसी आध्यात्मिकता झलकती है कि जो उन देशों में पनपती ही नहीं।

वर्ग-संघर्ष तथा राजनीतिक हलचलों के मूल में एक ओर जहाँ स्वार्थ-परता और सामाजिक विषमता होती है, वहाँ दूसरी ओर मानव का 'अहंकार' या 'अहम्' भी होता है। यदि इस अहंभावको संघर्ष-प्रेरक कहा जाय तो अनुचित न होगा, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में भी इसकी स्थिति असंदिग्ध है। इसको निर्मूल करने का विधान सभी वादों और जागरण-आन्दोलनों में रहता है, किन्तु इसे जीतना है कठिन ! कविवर पन्त ने इस 'अहं' को प्रीति में निमज्जित करने का उपाय बताते हुए इसके शमन की आकांक्षा प्रकट की है :—

'कामना वह्नि से दहक रहा भूपर सा भू का वक्षस्थल,
तुम अमृत प्रीति निर्झर से फिर उतरो, हों ताप अखिल शीतल !
युग युग के जितने तर्कवाद मानव ममत्व से वे पीड़ित,
तुम आओ सीमा हों विलीन, फिर मनुज अहं हो प्रीति-द्रवित !'

'गीत-विभव' कविता में 'कब विस्तृत होगा मनुज अहं' इसी भाव की ओर संकेत कर रहा है।

वर्तमान युग के संघर्षों को पंत जी भौतिकता का परिणाम समझते हैं, उनकी मान्यता है कि विद्युत, वाष्प, अणुशक्ति के ध्वंसात्मक उपयोग आज के संकीर्ण मनुज की परवशता हैं। नवयुग के अरुणोदय से पूर्व यह काल रात्रि के जैसे अन्ध तमस है। नव-क्रान्ति के साथ इसे छिन्न-भिन्न होते देर न लगेगी। पन्त जी की यह इच्छा. काश, चरितार्थ हो सकती। किन्तु इच्छा मात्र से कार्य-सिद्धि कभी संभव नहीं। जैसे सांस्कृतिक आरोहण और जीवन के उर्ध्वमान पंत जी के अभिप्रेत विषय हैं वैसे ही मानववाद भी, किन्तु क्या इसे कभी हम सफल होते देख सकेंगे ?

पंतजी के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उनकी संस्कृति, शाश्वत-सत्य और शिवत्व विषयक धारणाओं का जानना आवश्यक है। संस्कृति का स्पष्टीकरण करते हुए पंत जी ने लिखा है—"संस्कृति को मैं भावनीय पदार्थ मानता हूँ जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों

का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना-शिखर का प्रकाश और समदिक् जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायायें गुम्फित हैं। × × 'अतएव संस्कृति को हमें अपने हृदय की शिराओं में बहाने वाला मनुष्यत्व का रुधिर बहना चाहिये, जिसके लिये मैंने अपनी रचनाओं में सगुण, सूक्ष्म संगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर मनुष्यत्व आदि का प्रयोग किया है।'

शाश्वत-सत्य के विषय में पंत जी किसी एकांगी दृष्टिकोण के समर्थक नहीं। जड़ और चेतन, क्षर और अक्षर, अनन्त और सान्त दोनों में ही सत्य की प्रतिष्ठा उन्होंने की है। अद्वैत परिभाषा में इसके भिन्नार्थ भी सम्भव हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि जैसे पन्त जी इसमें समन्वयवाद की स्थापना करना चाहते हैं। वे लिखते हैं.—

'फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय,
उनको चेतनता, दुख नितान्त।
है सत्य एक जो जड़ चेतन,
क्षर, अक्षर, परम, अनन्त, सान्त !'

शिव-सत्य की शोध भी हमें मात्र भौतिकवाद में न करके, जहाँ भौतिक ज्ञान-विज्ञान का सारा कोष रिक्त हो जाता है वहाँ भी करनी चाहिए। पंत जी को योगी अरविंद के जीवन में इस शिवत्व का सर्वाधिक आभास मिला है। विश्व-कल्याण के लिए वे श्री अरविन्द को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानते हैं 'उनके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणुशक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है।' इस कथन में भारतीय अध्यात्म-तत्त्व की कोरी प्रशंसा है या तथ्य-कथन, इसका निर्णय करना आज के बुद्धिवादी युग में कुछ सरल नहीं है। मार्क्सवादी विचारधारा के लोग तो पंत जी की इस उक्ति पर व्यंग की मुस्कान हँसी हँस देंगे।

इसी प्रसंग में हम पंत जी के अतीत प्रेम का भी उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। भारत के अतीत का गौरव-गान करते हुए उन्होंने उसकी आध्यात्मिक निधि को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। उनका विश्वास है कि भारत का व्यक्तित्व अपराजित है और उसकी मानस-निधि बेजोड़ है। हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी युग के कवियों ने भी अतीत का गौरव-गान किया था, किन्तु वह स्थूल-भौतिक वैभव और पराक्रम का यशोगान मात्र था, पंत जी ने भारत की अन्तरात्मा में समाविष्ट अध्यात्म-तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

उनका मत है कि 'भारत का दान विश्व को राजनीतिक तंत्र या वैज्ञानिक यंत्र का दान नहीं हो सकता ; वह संस्कृति तथा विकसित मनोयंत्र की ही भेंट होगी।'

'ग्रहण करे फिर असिधारा व्रत, भारत के नवयौवन,
धरा चेतना में अब फिर से छिड़ा तुमुल आन्दोलन !
उठे जूझने विश्व समर में लोक चेतना के युग शिखर भयंकर,
विश्व सभ्यता रुग्ण, हृदय में व्याप्त हलाहल भीषण,
अमृत मंथ भारत क्या छिड़केगा न प्राण संजीवन ?'

पंत जी के इस अतीत प्रेम को देखकर यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि वे आज के युग-जीवन को अतीत भारत के विधि-निषेधों में बाँधकर चलाने की प्रेरणा करते हैं। उनकी बाह्य मान्यताओं में पश्चिम के जीवन-सौष्ठव तथा जीवन-दर्शन में भारतीयता की स्पष्ट माँग है। जीर्ण, शीर्ण, पुरातन, समस्त, रूढ़िग्रस्त अन्धविश्वासों के समूलोच्छेद के लिए कवि का मन आतुर है :—

'तुम खोलो जीवन बंधन, जन, मन, बंधन !
जीर्ण नीति अब रक्त चूसती जन का,
सदाचार शोषक मन के निर्धन का,
स्वार्थी पशु मुख पहने मानवपन का,
तुम छेड़ो अब अन्तर रण, मन हो प्रांगण !'

इसी ध्वनि को तीव्र करते हुए आगे कहते हैं कि 'रीति नीति के पुलिन डुबाकर, घुमड़े प्राणों के उर अम्बर'। 'रूपान्तर' कविता में तो कवि ने प्रगतिवादी भावना की गूँज इतनी ऊँची करदी है कि उसका अन्तर्द्वन्द्व जैसे सजीव होकर बोल उठा है। 'छिन्न करो जड़ पाश पुरातन, भग्न रुद्ध प्राणों के बंधन, गत आदर्शों की बाहों से—मुक्त करो अब जीवन !' इस कविता को पढ़ कर पंत जी की नवीन रचनाओं के प्रति मार्क्सवादी विचारधारा के आलोचकों द्वारा लगाए गए आरोप नहीं टिक पाते। इनमें न तो अन्तर्मन की पुकार है और न भारतीयता के नाम पर किसी प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति का पोषण ! डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'पंत जी के समन्वयवाद का वास्तविक रूप यह है कि वह अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली जनता को अन्तर्मन की घुट्टी पिलाते हैं। भारतीयता के नाम पर उसे पूँजीपतियों की गुलामी करना

छिपाते हैं और मार्क्सवाद का सामने से मुकाबला न करके दरअसल उसकी जगह धार्मिक अन्धविश्वासों को प्रतिष्ठित करते हैं।" उक्त कथन के जवाब में 'उत्तरा' की 'युग-संघर्ष', 'रूपान्तर' 'निर्माणकाल' 'उद्बोधन' आदि कविताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनके भाष्य या टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। 'उत्तरा' का कवि जागरण-आन्दोलनों में संलग्न जनता को पथभ्रष्ट करने की प्रेरणा से काव्य-सृष्टि में लीन हुआ है—हाँ, वह भौतिकता के अतिवाद से उद्विग्न होकर समाज में ऐसी वर्गहीनता चाहता है जिसकी प्रतिष्ठा अन्तर्वैभव पर हो।

मार्क्सवादी विचारधारा से मौलिक भेद रखते हुए जिस वर्गहीन समाज की बात पंत जी ने उत्तरा में कही है वह भारतीय जीवन-दर्शन को नवीन शैली से व्याख्या मात्र है। वे कहते हैं—"मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई भी सामाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती, जो मात्र समदिक् रहकर वर्गहीन हो सके। क्योंकि ऊर्ध्व संचरण ही केवल वर्गहीन संचरण हो सकता है और वर्गहीनता का अर्थ केवल अन्तर्वैभव पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है।"

'उत्तरा' में आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में कवि ने अपनी चिर-अभ्यस्त मधुर शैली को—जिसके प्रसाधन में शृंगारिक कल्पनाओं, उपमा और उत्प्रेक्षाओं का बाहुल्य रहता है—छोड़ा नहीं है। जघन, नाभिगर्त, उरोज पृथुश्रोणी आदि उपमा के साथ शृंगार की तरल रंगीनी इन कविताओं में स्थान-स्थान पर उभर आई है। इन्हें देखकर ही कदाचित् आलोचकों ने कहा है कि आज भी पंत जी की कविताओं में 'अतृप्त वासना के भूखे बादल मंडरा रहे हैं।' इस रिमार्क पर मेरा विनम्र निवेदन है कि काव्य-शैली की प्रभविष्णुता को ध्यान में रखकर भी इन उपमानों में वासना की गंध पा लेना या तो पक्षपात का सूचक है या फिर प्राण-शक्ति का दोष। काव्य में 'कान्ता-सम्मित' सुरुचिपूर्ण मार्ग जैसा पंत जी का है कदाचित् हिंदी के किसी अन्य कवि का नहीं। उत्तरा चिन्तन-मूलक कविताओं का संग्रह होने पर भी दुरूहता और दुर्बोधता के गंभीर आरोप से बहुत कुछ बचा रहा है, इसका मात्र कारण उनकी सरस शैली ही है। प्रकृति के चित्रोपम वर्णन करके भी कवि ने अध्यात्म के शुष्क विषय में सरसता का संचार किया है। जिस व्यक्ति की समस्त कृतियों के मूल में नैतिकता के प्रति दृढ़ अनुराग और आग्रह रहा है उसे 'वासना के भूखे बादलों से घिरा कहना या तो किसी पाश्चात्य मनोविज्ञान-शास्त्री का

अवचेतन सिद्धान्त है या स्वयं आलोचक में सहानुभूति तत्त्व की कमी या पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति का परिणाम है।

पन्त जी ने नवोन्मेषशाली प्रतिमा और अप्रस्तुत विधायिनी कल्पना शक्ति लेकर काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रारम्भ में कल्पना के अतिरंजित चित्र उन्होंने अंकित किये, उसके बाद वे अनुभूति के क्षेत्र में उतरे, और आज चिन्तन-जगत् में निमज्जित होकर अध्यात्मवाद की ओर अग्रसर हो रहे हैं। पंत जी की यह विशेषता है कि अमूर्त, छाया-भावों का अंकन वे इस शैली से करते हैं कि अस्पष्ट कहे जाने वाले भाव भी दीप्तिमान होकर अपनी आत्मा का ज्ञान कराते रहते हैं।

संक्षेप में, 'उत्तरा' को आज ही नहीं, आज से शताब्दियों बाद भी, यदि कोई पढ़ेगा तो उसे लगेगा कि यह कवि अपने काव्य-कौशल और जीवन-दर्शन के आधार पर मनोरम काव्य-सृष्टि ही नहीं कर रहा था वरन् वह मानव-जाति के पुनरुत्थान के लिए युग-निर्माण भी कर रहा था। उसकी सरस वाणी मानव को स्थूल जगत् के सम्बन्धों से ऊपर उठाकर अन्त.साधना में भी लीन कर रही थी। विकासोन्मुख काव्य के प्रणेता ने वर्ग-संघर्ष और सांसारिक भोग तक ही अपने को सीमित नहीं रखा—वरन् इन्द्रियों की विवशता से मिटने वाले मर्त्यों को उसने सजीवन-शक्ति का आस्वाद कराके अमरत्व प्रदान किया था। युग-जीवन की गतिविधि में उसने उन उपयुक्त स्थलों पर घुमाव दिया जब वह विनाश के विकराल मुँह में समाई जा रही थी। उसने मानवता को विनाश के स्थान में निर्माण का, जड़ के स्थान पर चेतन का, विषमता के स्थान पर समता का, अनैक्य के स्थान पर ऐक्य का, भेद के स्थान पर अभेद का, घृणा के स्थान पर प्रेम का और भूत-शक्ति के स्थान पर आत्मशक्ति के पुनरुत्थान का संदेश दिया था।

जनवरी, १९५१।

: १० :

काव्य और प्रकृति

इस दृश्यमान् अखिल चराचर जगत् को जीव और प्रकृति इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। स्रष्टा तथा नियामक के रूप में ईश्वर या ब्रह्म समग्र संसार में व्याप्त है। जीव उस विराट् चेतन सत्ता का अंश और दृश्य प्रकृति उसका पार्थिव पसारा है। तात्त्विक दृष्टि से प्रकृति सत् है, जीव सत् और चित् है तथा ईश्वर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। प्राकृतिक उपादानों द्वारा जहाँ जीवयोनि का भरण-पोषण होता है वहाँ सृष्टि की श्रेष्ठतम रचना 'मानव' को उसके द्वारा अपने भाव-जगत् के निर्माण की अमूल्य सामग्री तथा कल्पना और चिन्ता की विविध दिशाओं का नूतन संकेत भी मिलता है।

यों तो मानव भी अपने सत् रूप में प्रकृति का ही एक रूप है किन्तु वह अपने को प्रकृति से पृथक् करके देखता है। इस भेद-बुद्धि को स्वीकार करने पर भी मानव प्रकृति से सर्वथा अलग या असम्पृक्त नहीं है। प्रकृति मानव की चिर-सहचरी है जो उसके जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती हुई अन्तरंग अनुभूतियों को भी अपने रूप-सौन्दर्य से प्रभावित और अनुरंजित करने की अद्भुत क्षमता रखती है। इसी कारण सृष्टि के आदि से ही मानव का

प्रकृति के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ वह स्पन्दनशील एवं संवेदनशील सत्ता के रूप में ही हुआ। प्रकृति अपने असंख्य रूपों में हमारे सम्मुख आती है और हम नाना रूपात्मक, गतिमान, परिवर्तनशील, विविध ध्वनि-नाद-युक्त सृष्टि को देखकर विस्मय-विमुग्ध होने के साथ एक अव्यक्त जिज्ञासा से प्रश्नशील हो उठते हैं। प्रकृति के प्रति पूजा-आराधना का भाव भी कदाचित् इसी कारण मानव के मन में उदय हुआ कि वह उसके कोमल और कर्कश, कमनीय और विकराल, शान्त और प्रचण्ड रूपों से उल्लसित एवं आतंकित हुए बिना न रह सका। उसने अपने भाव-लोक में प्रकृति की व्यक्त सत्ता का जो विराट् रूप अंकित किया वही काव्य, साहित्य, संगीत, चित्र आदि विभिन्न ललित कलाओं द्वारा प्रस्फुटित होकर हमारे रागात्मक जगत् का अभिन्न अंग बन गया। फलतः विश्व साहित्य में प्रकृति-वर्णन की अनिवार्यता स्वीकार की गई और मानव ने सौंदर्यवृत्ति के तोष के लिए ही नहीं वरन् अपनी आभ्यन्तर जिज्ञासा, वैचित्र्यजन्य कुतूहल, मोहक-विस्मय तथा आतंकमय आश्चर्य के शमन के लिए भी प्रकृति के विविध रूपों को काव्य में ग्रहण किया।

वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन इस बात का प्रमाण है कि उस काल के ऋषि-मुनियों ने विराट् चेतन-सत्ता के स्तवन-प्रसंग में उषा, सविता, वरुण, चन्द्र, मरुत आदि प्रकृति-तत्वों का प्रचुर परिमाण में वर्णन किया था। इनके निरतिशय सौंदर्य एवं देदीप्यमान तेज का वर्णन जिन प्रकृति-उद्गीथों में किया गया है उसे पढ़कर पाठक का मन केवल अभिव्यंजना की प्रौढ़ शैली एवं कल्पना की समृद्धि पर ही मुग्ध नहीं होता अपितु प्रकृति की व्यापक सत्ता तथा दुर्द्धर्ष क्षमता पर भी रीझ उठता है। उषासूक्त, वरुणसूक्त, मरुत्सूक्त, वर्षासूक्त आदि में यद्यपि देवता-परक दृष्टि से इनका स्तवन-वर्णन हुआ है तथापि इनके स्थूल दृश्य-रूप का सर्वथा तिरस्कार नहीं है। देवता-परक भावना से हटकर जब हम इनके मांसल प्रकृति-रूप का अवगाहन करते हैं तब ये सब पदार्थ अपने भौतिक स्वरूप में हमारे हृदयाकाश में भासमान हो उठते हैं। वेद-संहिताओं के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय के अन्य अंग ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक में भी प्रकृति के प्रतीक, उपमान, रूपक आदि की भरमार है। रहस्य-भावना के अंकन में प्रकृति-प्रतीकों की जैसी सुन्दर योजना उपनिषदों में हुई वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। प्राकृतिक वैभव का चित्रण भी इन ग्रन्थों में विशेष रूप से हुआ है।

भारतीय दर्शन अपने सूक्ष्म विवेचन के लिए प्रसिद्ध है। स्थूल के प्रति उनका अपेक्षाकृत न्यून आग्रह है। फिर भी कपिल और कणाद ऋषि ने प्रकृति की मीमांसा बड़ी विशद एवं सन्तुलित शैली से अपने दर्शन-ग्रन्थों में प्रस्तुत की है। सांख्य दर्शन में पुरुष के आकर्षण सूत्र में आबद्ध प्रकृति को सृष्टि रचना करने में सबसे अधिक प्रयोजनीय कहा गया है, और भौतिक जगत् में उसकी असीम शक्ति वर्णित की गई है। वैशेषिक दर्शन में, मूल प्रकृति रूप पंचभूतों का विश्लेषण तात्विक दृष्टि से हुआ है। अन्य दर्शनों में कहीं प्रकृति को माया, कहीं प्रपंच-प्रसारिका, कहीं मायाविनी नटी आदि नाना रूपों में स्मरण किया है। दर्शनों में प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही रूप आए हैं जो सृष्टि-रचना के रहस्योद्घाटन में तथा संसार के सरणशील बने रहने में अपनी उपादेयता रखते हैं। प्रकृति की सर्जन-शीलता का सम्मान मानव ने केवल उसके जड़-उपादान के रूप में नहीं किया, वह तो आदि काल से उसे क्रियाशील मानकर उसके नाना रूपों पर प्रसन्न, मुग्ध, तुष्ट और क्षुब्ध होकर उसकी पूजा-आराधना, स्तवन-कीर्तन, अंकन-चित्रण आदि करता रहा है। यथार्थ में जीवन के समानान्तर ही प्रकृति का उपयोग किया गया है। अतः प्रकृति और मानव चिर-सहचर बन गए हैं।

संस्कृत-महाकाव्यों में प्रकृति का ग्रहण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप में हुआ। वाल्मीकीय रामायण और महाभारत में दृश्य-प्रकृति चित्रों का जैसा सश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है वैसा कालिदास और भवभूति के सिवा किसी अन्य कवि के काव्य में दृष्टिगत नहीं होता। प्रकृति को विभाव की कोटि में आलम्बन मानकर वर्णन करने की शास्त्रीय मर्यादा परवर्ती महाकाव्य और खंडकाव्यों में नहीं रही। इसी कारण प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णनों में उतनी तल्लीनता और सजीवता नहीं पाई जाती। उद्दीपन के फेर में पड़कर कवियों की भावना में परिवर्तन आ गया और वन, उपवन, गिरि, निर्झर, सर, सरिता, वर्षा, शरद, बसन्त, मालती, चन्द्र, चाँदनी, सभी पदार्थों में उन्होंने अपनी भावना का आरोप करना प्रारम्भ कर दिया। कहना न होगा कि यह परिपाटी शास्त्रीय शृङ्गार की दृष्टि से समीचीन भले ही प्रतीत हो किन्तु प्रकृति के वस्तुगत रूप के प्रति घोर उदासीनता की द्योतक है। रामायण से सश्लिष्ट प्रकृति चित्रण के ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें प्रकृति को शुद्ध वस्तु रूप में स्वीकार करके कवि ने उसका आलम्बन परक वर्णन किया है। मन्दाकिनी का वर्णन करते हुए राम सीता से कहते हैं—

विचित्र पुलिनां रम्यां हंस सारस सेविताम् ।
कुसुमैः सूप सम्पन्नां पश्य मंदाकिनीं नदीम् ॥
मारुतोद्धूत शिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।
पादपैः पुष्प पत्राणि सृजद्भिः रभितोनदीम् ॥
निर्धूतान्वायुना पश्य विततान्पुष्प संचयान् ।
पो प्लूयमानान परान्पश्य त्वं तनुमध्यमे ॥

—वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड स० ९५ श्लोक ३-८

"इस विचित्र पुलिनवाली रमणीय मन्दाकिनी को देखो जिसके तट पर हंस और सारस क्रीड़ा कर रहे हैं और जो पुष्पों से युक्त वृक्षों द्वारा शोभायुक्त लग रही है। मारुत के वेग से प्रताड़ित शिखरों से नृत्य-सा करता हुआ पर्वत (अपने ऊपर स्थित) अपने वृक्षों से नदी पर चारों ओर से पुष्प और पत्र विकीर्ण कर रहा है। वायु के झोंके से नदी के किनारे फैले हुए पुष्पों के ढेर को देखो और साथ ही उन पुष्पों को भी देखो जो उड़कर पानी में आ गिरे हैं—वे पानी में कैसे तैर रहे हैं।"

उपर्युक्त वर्णन में मन्दाकिनी के पुलिन-प्रदेश, पक्षियों के कल्लोल, क्रीड़ा, पुष्पित वृक्षों का आमोद-वितरण, पर्वत की शोभा, पुष्प और पत्रों का झड़ कर जल में विकीर्ण होना इतने स्वाभाविक रूप में अंकित किया गया है कि पाठक के अंतर्नेत्रों के सम्मुख नदी का ब्योरेवार समग्र चित्र उपस्थित हो जाता है। इसमें नायक-नायिका की किसी व्यक्त-अव्यक्त भावना का उद्दीपन कवि को अभीष्ट नहीं है। ऐसे और इससे भी कहीं सुन्दर वर्णन रामायण और महाभारत में भरे पड़े हैं। ये वर्णन इस बात के सबल प्रमाण हैं कि भारतीय काव्य-परम्परा में प्रकृति-वर्णन को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हुआ था और हमारे कविगण प्रकृति की अवतारणा मनोविकार के उद्दीपन की पीठिका में ही न करके उसके शुद्ध-स्वतन्त्र रूप में भी करते थे। इस तथ्य की पुष्टि में सहस्राधिक उदाहरण संस्कृत-काव्यों से दिए जा सकते हैं किन्तु मौलिक सिद्धान्त की स्थापना के बाद प्रमाणों के घटाटोप की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। कालिदास और भवभूति के ग्रन्थों में प्रकृति को पीठिका बना कर जो हृदयावर्जन हुआ है वह शुद्ध आलम्बन का ही रूप है, उद्दीपन उनका आनुषंगिक फल हो तो कवि को उसमें आसक्ति नहीं है।

संस्कृत के गद्य-साहित्य में भी प्रकृति-वर्णन उसी शैली से हुआ है जिस शैली से काव्य-साहित्य में। काव्य, नाटक और गद्य-रचना-शैली में भिन्नता

होते हुए भी प्रकृति-वर्णन के मूलभूत सिद्धान्त में समानता है। बाणभट्ट, दण्डी, श्रीहर्ष आदि सभी प्रमुख गद्यकारों ने प्रकृति-वर्णन में आलंकारिक शैली की छटा दिखाते हुए वस्तु-रूप को ही प्रधानता दी है। बाणभट्ट जैसा प्रतिभाशाली गद्य-प्रणेता अपनी रचनाओं में जहाँ एक ओर सफल चित्रकार प्रतीत होता है वहाँ दूसरी ओर उसकी सूक्ष्म दृष्टि का पता उन वर्णनों में लगता है जिनमें उसने जीर्ण शाल्मली, विन्ध्याटवी, ऊबड़ ग्राम, पर्वत, वन, घाटी, चैत्य, आदि का अंकन सांगोपांग एवं सटीक रूप में किया है। पदलालित्य, आलंकारिकता, परिमार्जन और प्रौढ़ता आदि गुण तो दण्डी और श्रीहर्ष में भी हैं किन्तु सूक्ष्म-दर्शन की दृष्टि से बाणभट्ट उनसे आगे है। प्रकृति के सम्बन्ध में भारतीय काव्य समीक्षा और काव्य-परिपाटी का भेद प्रदर्शित करने के लिए हमने इस प्रसंग को यहाँ संकेत रूप से उपस्थित किया है। शास्त्रकार भले ही प्रकृति को आलम्बन न मानें, भले ही उनकी दृष्टि में प्रकृतिजन्य रस शुद्ध काव्य-रस की कोटि में न आए, किन्तु काव्य-रसिक, सहृदय कवियों के लिए तो प्रकृति रस भी शुद्ध रस बनकर ही आया है और आता रहेगा।

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में भी प्रकृति को ठीक वही स्थान मिला है जो वैदिक और संस्कृत साहित्य में है। पालि के जातक ग्रन्थों में वस्तु-परक वर्णनों का अभाव है क्योंकि उनमें लघु कथानकों का ऐसा जाल बिछा है कि प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों की अवतारणा के लिए अवकाश ही नहीं रहता। हाँ, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में शुद्ध प्रकृति-वर्णन के प्रसंगों की न्यूनता नहीं है। रूपक, उपमान और प्रतीक शैलियों द्वारा प्रकृति-वर्णन की शैली इन दोनों भाषाओं में संस्कृत के समान ही मिलती है।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत प्रकृति का जिस रूप में ग्रहण हुआ वह न तो मौलिक है और न उद्भावना की दृष्टि से ही नवीन कहा जा सकता है। आदिकाल के साहित्य में प्रकृति को उपयुक्त स्थान नहीं मिला। भक्तियुग में सूर और तुलसी ने प्रकृति का उपयोग आलम्बन और उद्दीपन दोनों दृष्टियों से किया। कबीर और जायसी ने रहस्य-भावना के वर्णन में प्रकृति के प्रतीक ग्रहण किये और अप्रस्तुत विधान की योजना करके प्रकृति को पर्याप्त स्थान दिया। रीतिकालीन कवियों ने शास्त्र-मर्यादा तथा नायिकाभेद के भँवर-जाल में फँसकर प्रकृति की क्षमता को सीमित बना दिया और प्रकृति के वस्तु-सौंदर्य से आँख हटाकर उसे अपने मनोविकारों की पृष्ठभूमि में ला खड़ा किया। फलतः प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता विलीन हो गई और उसका अनवद्य सौन्दर्य

उनकी दृष्टि में नायक या नायिका के मन को रिझाने या रिसाने वाला बन गया। उद्दीपन की यह प्रणाली यद्यपि नूतन न थी तथापि अपने प्रयोग की क्षुद्र सीमापरिधि में बँधकर वह कवि और काव्य दोनों को कुण्ठित करने वाली सिद्ध हुई। केशवदास, चिन्तामणि, देव, पद्माकर और भारतेन्दु तक यही प्रणाली चलती रही। सतोष का विषय है कि द्विवेदी युग में प्रकृति ने फिर से उन्मुक्त वातावरण में साँस ली और तथाकथित शास्त्रीय बन्धनसे छूटकर वह कवि के मानस में हर्षोल्लास की तरग उत्पन्न करने की क्षमता जुटा सकी। छाया-वादी युग में आकर तो प्रकृति-अप्सरा को अपने पंखो में पूरी उड़ान भरने को नील-गगन दिखाई दिया और पंत, प्रसाद, निराला के काव्य-कानन में प्रकृति परी को स्वच्छन्द विहार करने का अवसर मिला। शास्त्र की शृंखला से छूटने पर प्रकृति में रूपातिशय के साथ वस्तु और भाव दोनों का सम्मिश्रण इन कवियों द्वारा हुआ और प्रकृति को सापेक्ष दृष्टि से न देखकर स्वतन्त्र और निरपेक्ष दृष्टि से देखना ही श्रेयस्कर समझा जाने लगा। प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण का यह स्वस्थ परिवर्तन हिन्दी कविता में व्यापकता लाने का कारण बना।

विदेशी भाषाओं के साहित्य में भी प्रकृति को समुचित स्थान मिला है। अग्रेजी भाषा में तो प्रकृति के दृश्य रूप को चेतन सत्ता के रूप में ग्रहण करके मानवीकरण द्वारा अनेक कवियों ने वर्णित किया है। मिल्टनसे लेकर मैथ्यू आर्नल्ड तक कवि प्रकृति को वर्ण्य वस्तु को प्रधानता देकर उसमें नाना रूप, ध्वनि, नाद और सौंदर्य का दर्शन करते रहे। प्रभंजन को सम्बोधन करके लिखी हुई कवि शैली की 'ओड टु दी वेस्टविंड' कविता की दुनिवार शक्ति पर किसे आश्चर्य नहीं होता। वर्ड्सवर्थ के प्रकृति-प्रेम पर कौन सहृदय मुग्ध नहीं होता? कीट्स की कमनीय कल्पना पर कौन रसिक लुब्ध नहीं होता? टेनीसन के प्रकृति क्रीड़ा-वर्णन शैली पर कौन अनुरक्त नहीं होता! निश्चय ही अग्रेज कवि प्रकृति को सवेदनशील और स्पन्दनशील मानकर ही उसका वर्णन करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की परिभाषा की तरह उन्होंने प्रकृति को उद्दीपन की परिधि में आबद्ध नहीं किया है। अतः उनका वर्णन संश्लिष्ट होने के साथ ही सजीव और प्राणवान हुआ है।

कविता और प्रकृति के अभिन्न सम्बन्ध की स्थापना करने के लिए जिन आधारभूत मौलिक प्रश्नों को उठाया जाता है, उनपर विचार करना भी हम आवश्यक समझते हैं। इस सैद्धान्तिक विवेचन को हम तीन-चार प्रश्नों में बाँट-

कर उनकी मीमांसा करेंगे। पहला प्रश्न है प्रकृति को काव्य में किस रूप में ग्रहण किया जाए—आलम्बन या उद्दीपन विभाव में से किसके अन्तर्गत रखा जाए? दूसरा प्रश्न—प्राकृतिक सौंदर्य का अवस्थान कहाँ है—दृश्य में या दर्शक की भावना में? इस प्रश्न का अवान्तर प्रश्न है कि—दृश्यमान् वस्तु तत्वतः सुन्दर है या वह कलात्मक अभिव्यंजना का फल है? तीसरा प्रश्न है कि प्रकृति-प्रेम को रस की दृष्टि से शुद्ध रसानुभूति माना जाए या केवल भाव या रसाभास समझा जाए? चौथा प्रश्न है—काव्य और प्रकृति के मिलन का धरातल क्या है? क्या मानवीकरण और प्रतीक-विधान की आलंकारिक पद्धति को स्वीकार करके हम प्रकृति को संवेदनशील बना लेते हैं अथवा उसमें स्वयं प्रबुद्ध चेतना का वही रूप है जो जीव-योनि में होता है? इन प्रश्नों के सिवा कुछ छोटे-मोटे और प्रश्न भी उठ सकते हैं जो साधारणीकरण की प्रक्रिया को लेकर उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करते समय प्रकृति के विविध रूप हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। प्रकृति-सौंदर्य के असंख्य स्तर हैं। अनेक रूपों में प्रकृति हमारे नेत्रों के सामने बिखरी पड़ी है। उसके कोमल-कमनीय रूप ही नहीं, भयानक और बीभत्स रूप भी हमें देखने को मिलते हैं। अतः उसकी कोई एक निश्चित कल्पना हम नहीं कर सकते। प्रकृति और मानव को मिलाने वाले और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने वाले कारणों की भी इयत्ता नहीं है। किन्तु काव्य और प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित करने वाला हेतु स्पष्ट है और वह है सौन्दर्यानुभूति। सौंदर्य के धरातल पर काव्य और प्रकृति का कवि की अनुभूति, कल्पना और भावना के द्वारा संगम होता है। प्रकृति के विराट विस्तार से जो सौन्दर्य कवि अपनी कल्पना में ग्रहण करता है वही उसके काव्य में अभिव्यक्ति पाता है। सौन्दर्य को इसलिए वस्तुपरक मानने की अपेक्षा कुछ लोग मनस्-परक अधिक मानते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् क्रोचे ने अपनी पुस्तक 'एस्थेटिक' में प्रतिपादित किया है कि प्रकृति की सौन्दर्य-भावना मनस्-परक है। प्रकृति स्वयं तो मूक और जड़ है; कलाकार जब तक उसे वाणी नहीं देता उसका सौन्दर्य मुखरित नहीं हो पाता। प्रकृति-सौन्दर्य को हृदयंगम करने के लिए केवल बाह्य दर्शन ही पर्याप्त नहीं, उसे भली भाँति समझने के लिए कलात्मक मानसिक स्तर का होना भी अनिवार्य है। वस्तुपरक दृष्टि से विचार करने पर वस्तु-रूप की अनिवार्यता भी सामने आती है और लगता है कि स्थूल रूप के बिना भाव की स्थिति कहाँ होगी। अतः वस्तु और भाव दोनों

से सम्बन्धित और समन्वित रूप को ही सौन्दर्य की व्याख्या में रखना
संगत होगा।

प्रकृति के विराट् सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवि काव्य-रचना करता है,
उसके सौंदर्य को अपनी कल्पना और अनुभूति का विषय बनाता है। यह अनुभूति
ही अभिव्यक्ति का विषय बनकर कविता का रूप धारण करती है। अतः ऐसी
स्थिति में काव्यमें प्रकृति को आलम्बन माना जायगा और कवि होगा उन भावो का
आश्रय। आलम्बन रूप इस प्रकृति को हम वस्तु-आलम्बन और भाव-आलम्बन
दो रूपो में देख सकते हैं। जहाँ किसी घटना, स्थल, दृश्य आदि को स्पष्ट करने
और कथानक आदि की पृष्ठभूमि तैयार करने में इसका उपयोग होता है वहाँ
वस्तु-आलम्बन के रूप में इसका ग्रहण होगा। इन वर्णनो में कवि स्वतन्त्र
शैली से वस्तु रूपों को इतना प्रमुख स्थान देता है कि उनका रूप हमारे अन्तः-
करण में रसानुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होता है। भाव-आवलम्बन में
मानवीय भावो के समानान्तर प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करना ही कवि
को अभीष्ट है। प्रकृति के पुष्प, पत्र, लता, विहगो का कलरव, निर्झर का
कल-कल नाद कभी नायक-नायिका के स्वागत करने के लिए भाव की पृष्ठ-
भूमि में वर्णित होते हैं, कभी किसी अन्य भाव को व्यंजित करने के लिए।
आलम्बन की यह स्थिति तभी स्वीकार की जायेगी जब काव्य में दूसरा कोई
आलम्बन न होगा या किसी अन्य परोक्ष आलम्बन का इस वर्णन से उद्दीपन
रूप का सम्बन्ध न होगा। यदि किसी अन्य आलम्बन से इस वर्णन का सम्बन्ध
हुआ तो वहाँ यह आरोपित उद्दीपन ही समझा जायगा।

साधारणतः भारतीय प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति के इस आलम्बन रूप
को स्वीकार नहीं किया और रस-सिद्धान्त के विवेचन में कहा कि प्रकृति के
अचेतन होने के कारण, तज्जन्य भाव रस रूप में परिणत नहीं हो सकता।
प्रकृति हमारे भावों के साथ आदान-प्रदान नहीं करती, उसके प्रति व्यक्त प्रेम
भी एकांगी होता है। अतः वह भाव ही होगा, रस नहीं। हेमचन्द्र ने अपने
काव्यानुशासन ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है "नरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपादृसभाया-
भासं। तत्रवृक्षादिस्तनोविस्वेनारोप्यमाणो रसभावो रसभावभासतां भजतः।"
काव्यानुशासनवृत्तिः (वाग्भट्ट)। इस शास्त्रीय सिद्धान्त का खंडन आचार्य
रामचन्द्र शुक्ल ने अपने लेख 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य" में किया और प्रकृति-
वर्णन में रस की स्थापना की है।

प्रकृति-रस की स्थापना के लिए भक्ति रस, वात्सल्य रस और शृंगार रस विषयक विभिन्न मान्यताओं को स्वपक्ष में प्रस्तुत किया जाता है। भानुमट्ट की 'मायारस' कल्पनाके आगे प्रकृति-रस की स्वीकृति तो बड़ी सहज-स्वाभाविक है। वस्तुतः प्रकृति निष्ठ सौन्दर्य का भाव इस चरम कोटि तक मानव-मन को उल्लसित और उद्बुद्ध कर देता है कि हम उसे एकदम भूल नहीं सकते। भक्तिरस की स्थापना करने वाले आचार्यों ने शान्त भाव को जिस आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित किया उतनी ही सुदृढ़ भूमि पर सौन्दर्य-भाव को भी स्थापित किया जा सकता है। सौन्दर्यानुभूति और उसकी अभिव्यंजना दोनों ही काव्य के जीवित तत्त्व रहे हैं। इस विषय में पूर्व और पश्चिम दोनों देशों के काव्य-शास्त्रियों का समान अभिमत है। "यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो ये (सौंदर्य और शान्त भाव) रति या शम या निर्वेद के अन्तर्गत भी नहीं आ सकते। परन्तु इस ओर संस्कृत आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है। परिणाम स्वरूप इन दोनों भावों के आलम्बन रूप में आने वाली प्रकृति साहित्य में केवल उद्दीपन रूप में स्वीकृत रही। मानव के मन में सौन्दर्य की भावना सामंजस्यों का फल है और यह भाव रति स्थायी भाव का सहायक अवश्य है। परन्तु रति से अलग उसकी सत्ता न स्वीकार करना अतिव्याप्ति दोष है। इसी प्रकार शान्त केवल निर्वेदजन्य संसार से उपेक्षा का भाव नहीं है, वरन् भावों की एक निरपेक्ष स्थिति भी है। सौन्दर्य भाव और शान्त भाव मन:स्थिति की वह निरपेक्ष स्थिति है जो स्वयं में पूर्ण आनन्द है।"[1] यदि इस तरह इन्हें निरपेक्ष मानकर आनन्द की पूर्ण स्थिति में स्थिर करके देखा जाए तो इनको रसकोटि में रखना असंगत न होगा। प्राचीनों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया यह आश्चर्य का ही विषय है। हिन्दी काव्य-शास्त्र में तो प्रायः परम्परा-पालन मात्र हुआ है। अतः नूतन दृष्टि-उन्मेष का अवसर ही कहाँ है! फिर भी आश्चर्य की बात है कि आचार्य केशवदास ने प्रकृति को आलम्बन-स्थानों में परिगणित करने का साहस किया है। नायिका के साथ पृष्ठभूमि रूप समस्त पदार्थों को केशव ने आलम्बन के अन्तर्गत स्वीकार करके प्रकृति की सीमा मर्यादा को व्यापक बनाया है।

प्रकृति के सचेतन और संवेदनशील होने की बात हम पहले कह चुके हैं। आधुनिक विज्ञान के आधार पर वनस्पति-जगत् को चेतन सत्ता स्वीकार हो चुकी है। श्री जगदीशचन्द्र वसु के आविष्कार की मान्यता को हम मान ही

---

१. देखिये—'प्रकृति और काव्य' (हिन्दी) डा० रघुवंश पृष्ठ १३७।

काव्य-साहित्य से पृथक् रखें किन्तु प्रकृति को जड़ और अचेतन कह कर उसे आलम्बन के सर्वथा अयोग्य नहीं ठहरा सकते। प्रकृति के गतिशील और प्रवाहित रूपों को कवि यदि अपनी चेतना के आधार पर सजीव और सप्राण करके देखता है तो वह काव्य-शैली से कोई अपराध नहीं करता। प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत रखते समय भी उसके ऊपर कवि अपनी मनसा का आरोप करता ही है। मानवीकरण करते समय तो प्रकृति चेतन सत्ता के रूप में ही व्यक्त होती है। "प्रकृति के मानवीकरण की भावना में पशु-पक्षी जगत् तो मानवीय सम्बन्धों में व्यवहार करते प्रकट ही होते हैं, वनस्पति तथा जड़ जगत् भी व्यक्ति विशेष के समान उपस्थित होता है। कवि की भावना में वृक्ष पुरुष के रूप में और लता स्त्री के रूप में एक दूसरे को आलिंगन करते हुए जान पड़ते हैं। सरिता प्रियतमा के रूप में नीरनिधि से मिलने को व्याकुल दौड़ रही है। पुष्प उत्सुक नेत्रों से किसी की प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत जीवन और सम्बन्धों के साथ प्रकृति में मानवीय आकार के आरोप की भावना भी प्रचलित है। साहचर्य के आधार पर व्यापक प्रतिबिम्ब के रूप में प्रकृति का सौन्दर्य-रूप तो आलम्बन है परन्तु आकार के आरोप के साथ शृंगारिक भावना अधिक प्रबल होती गई है और इस सीमा पर यह प्रकृति का मानवीकरण रूप शृंगार का उद्दीपन विभाव समझा जा सकता है।" (प्रकृति और काव्य-डा० रघुवंश पृ० ११३)। प्रकृति के उद्दीपन-परक वर्णनों में कवि की भावना का आरोप तो प्रायः होता ही है, कहीं-कहीं प्रकृति-दृश्य रूपों में भी इतना सामर्थ्य और बल दृष्टिगत होता है कि वे चेतन सत्ता के समकक्ष प्रतीत होते हैं। इस आरोपित चेतना को सहज चेतना न मानने पर भी इसकी उपेक्षा संभव नहीं है क्योंकि इसमें आनन्दानुभूति, रसानुभूति और तल्लीनता की कोई कोर-कसर नहीं है।

अलंकारवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति-वर्णन पर विचार नहीं किया किन्तु अलंकार-योजना में अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत प्रकृति की उपादेयता स्वीकार की गई है। उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों में सादृश्य-विधान के लिए जिन प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग हुआ है वह प्रकारान्तर से काव्य में प्रकृति की प्रयोजनीयता की स्वीकृति ही है। विद्यापति, जायसी, तुलसी आदि सभी ने अप्रस्तुत-विधान में उद्यान, चन्द्र, चांदनी, पर्वत, सर-सरिता, सागर आदि का प्रचुर प्रयोग किया है। अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त आदि अलंकारों में प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को कवियों ने चुना है। कबीर

की अन्योक्तियों में उद्यान के विकसित फूलों की क्षणभंगुरता प्रसिद्ध ही है। अद्वैतभावना की सिद्धि के लिए 'काहे रे नलनी तू कुम्हलानी तेरहि नाल सरोवर पानी' आदि उक्तियाँ प्रकृति उपमान की अप्रस्तुत योजना पर ही निर्भर हैं। प्रतीक-विधान के लिए भी प्रकृति से दृश्य पदार्थों का चयन अनादिकाल से कवि करता आ रहा है। प्राचीन और नवीन कविता के प्रतीक-विधान में मौलिक अन्तर नहीं है। हाँ, समयानुसार प्रतीक अवश्य परिवर्तित होते रहे हैं। उषा, सन्ध्या, चन्द्र, चाँदनी, आकाश, पर्वत, सागर, पवन सभी प्रतीक विभिन्न मनोदशाओं और स्थितियों के द्योतक रहे हैं। छायावादी कविता की समृद्धि में तो इन प्रतीकों का विशेष योग रहा है।

प्राकृतिक तत्वों के माध्यम से सन्त तथा भक्त कवियों ने अपनी रहस्य-साधना एवं भक्ति-भावना का बाह्य ढाँचा खड़ा किया है। ब्रह्म का स्वरूप, आत्मा की स्थिति, माया का प्रपंच और भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता आदि प्रदर्शित करने के लिए सन्त तथा भक्त कवियों ने प्रायः प्रकृति-तत्वों के रूपक ग्रहण किये हैं। कबीर, दादू, मलूकदास, सूर, तुलसी, हितहरिवंश, ध्रुवदास, हरिदास स्वामी, आदि कवियों की रचनाओं में इसकी पुष्टि में पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। भक्त कवियों ने भगवान् के रूप-सौन्दर्य चित्रण में प्रकृति के उपमानों का इतना अधिक प्रयोग किया है कि उसे देखकर लगता है कि भारतीय साधना में प्रकृति का सर्वाधिक उपयोग है जबकि साथ ही साथ प्रकृति को माया और प्रपंच कहकर दूर रखने का उपदेश भी है। सौन्दर्य-वर्णन की इस परम्परा में रीतिकालीन कवि भी उसी तरह आते हैं। उनके काव्य में भी प्रकृति का वही स्वरूप और स्थान है जो भक्तिकालीन कवियों के काव्य में था। देव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर की कविता में प्रकृति के विविध रूपों द्वारा नायक-नायिका के मनोभावों को उद्दीप्त किया गया है तो सेनापति और घनानन्द के काव्य में स्वतंत्र रूप में भी प्रकृति की छटा वर्णित हुई है। संक्षेप में, प्रकृति की विराट् व्यापक सत्ता का उपयोग कविता के क्षेत्र में प्रारम्भ से होता रहा है। आधुनिक युग में प्रकृति-पर्यवेक्षण से उद्भूत भाव-भावनाओं का जगत् और अधिक व्यापक हो गया है। संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रों के साथ मानव की मनसा का आरोप, मानवीकरण की प्रवृत्ति, नूतन प्रतीक-योजना और ध्वनि-नाद-बिम्ब विधान आदि का इतना प्रचुर प्रयोग होने लगा है कि प्रकृति के बिना काव्य की कल्पना ही सम्भव नहीं। प्रबंध काव्यों में

अतिरिक्त मुक्तक गीतों में भी प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का वर्णन अत्यधिक मात्रा में होता है।

आधुनिक युग के छायावादी तथा प्रकृतिवादी कवियों ने भी प्रकृति को अपने काव्य में अनेक रूपों में संजोया है। यथार्थ में, काव्य-रचना करते समय जैसे मानव की उपेक्षा सम्भव नहीं वैसे ही प्रकृति भी उपेक्षणीय नहीं हो सकती।

मार्च, १९५४।

: ११ :

'नीरजा' : एक विश्लेषण

महादेवी वर्मा की रचनाओं में 'नीरजा' का स्थान कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। रसानुभूति के उत्कर्ष के साथ अभिव्यंजना का क्रमिक विकास 'नीरजा' में स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'नीरजा' कवयित्री की काव्यानुभूति का तीसरा सोपान है, किन्तु इस सोपान तक पहुँचते-पहुँचते उसे मंजिल की आभा-भरित चोटियाँ दिखाई पड़ने लगी हैं। कल्पना का प्राधान्य अब क्षीणतर होकर चिन्तन और अनुभूति के रूप में परिवर्तित हो गया है, आनन्द और उल्लास का स्निग्ध आलोक कवयित्री के अन्तर में 'नीरजा' के विकास में सक्षम होकर उसे हर्ष के वातावरण में विचरण करने की प्रेरणा दे रहा है। श्री रायकृष्णदास के शब्दों में—'नीरजा' में 'नीहार' का उपासना-भाव और भी तीव्रता और तन्मयता के साथ जागृत हो उठा है। इसमें अपने उपास्य के लिए केवल आत्म की करुण अधीरता ही नहीं, अपितु हृदय की विह्वल प्रसन्नता भी निहित है। 'नीरजा' यदि अश्रुमुखी वेदना के कणों से भीगी हुई है तो साथ ही परमानन्द के मधु से मधुर भी है। मानो, कवि की वेदना, कवि की करुणा अपने उपास्य के चरण-स्पर्श से पूत होकर आकाशगंगा की भाँति इस छायामय जग को

सीच देने में ही अपनी सार्थकता समझ रही है।" इन पंक्तियों में 'नीरजा' को अश्रुमुखी वेदना के कणों के साथ आत्मानन्द के मधु से मधुर कहा गया है। संसार को अपनी शान्त-स्निग्ध भावधारा से आप्लावित करने वाली 'नीरजा' की कवयित्री की उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण रचना हमने प्रारम्भ में इन्ही विशिष्ट गुणों के कारण कहा है।'नीरजा' में काव्यानुभूति के उत्कर्ष के साथ आनन्दानुभूति के मनोरम स्थलो का भी अभाव नही है।

'नीरजा' महादेवी जी के अनुभूति एवं चिन्तन-प्रधान अद्भावन गीतो का सकलन है। काव्याङ्गो की दृष्टि से यह मुक्तक गीति-काव्य का रूप है। अन्तर्मुखी सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गीतिकाव्य सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार किया जाता है। यद्यपि गीत शब्द के विषय में आज दिन भ्रांतियों का अभाव नही—सभी शीर्षक-हीन लघुकाय कविताओं को प्रायः गीतिकाव्य के नाम से व्यवहृत करने लगे हैं। गीति-तत्त्व के अभाव में भी हमने अनेक कविताओं को गीतिकाव्य में परिगणित होते देखा है, किन्तु गीत की यदि सीमा-मर्यादा निर्धारित की जाये तो संगीत और काव्य के समुचित समन्वय को ही गीत कहा जा सकता है। संगीत के अन्तर्गत उसके प्रधान धर्म गेयता का होना नितान्त आवश्यक है। महादेवी जी के गीतों में हम इन दोनो तत्वों के पूर्ण समावेश के साथ अन्तर्दर्शन और आत्मनिष्ठता की प्रधानता देखकर उनकी प्रभावोत्पादकता पर मुग्ध हुए बिना नही रह सकते। 'नीरजा' के गीतों में रागात्मक अनुभूति की तीव्रता एक ऐसा समाहित प्रभाव उत्पन्न करती है कि कुछ क्षणों के लिए मानसिक आवेगों का प्रसार गीत के भाव के अतिरिक्त कहीं और जाता ही नहीं। कहना न होगा कि ऐसा मोहक प्रभाव गीतों के कलापक्ष की परिपूर्णता के कारण उत्पन्न नहीं होता और न उनकी संगीतात्मकता का ही यह फल है—यह तो निश्चय ही गीतों के अन्तराल में समाविष्ट सूक्ष्म भाव-गरिमा है जो पाठक को अपने में लीन किये रखने की अनुपम शक्ति रखती है। जिन पदों में यह भाव अभिव्यंजना की दुर्बोधता या भाव की अतिसूक्ष्मता के कारण अव्यक्त रह गया है, वहाँ कलापक्ष के चमत्कार पर पाठक नहीं रीझता। 'नीरजा' में ऐसे अनेक गीत हैं जो अपनी भाव-वस्तु की गहनता के कारण अज्ञेय से बने रह जाते हैं। उनकी यह मर्मयता क्यों है यह जानने के लिये कवयित्री की भावाभिव्यंजन-शैली की अपेक्षा भाव-वस्तु का अनुशीलन ही अधिक आवश्यक है। भाव-प्रसार या प्रेषणीयता की क्षमता जिन गीतों में न्यून मात्रा में है उनमें भी गेयता और आत्मनिष्ठ भावना का

अभाव नही है।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में कहा है कि 'नीरजा' के गीत अनुभूति और चिन्तन-प्रधान होने के कारण 'नीहार' और 'रश्मि' के गीतों से अधिक आत्म-चेतनापूर्ण हैं। आत्म-चेतना की जागृति गीति-काव्य का प्राण है। अपने हृदय का हर्ष-विषाद प्रकट करने के लिए गीत एक ऐसा सरस माध्यम है जिसमें हमारी भावना और अनुभूति को प्रतिफलित होने का पर्याप्त अवकाश मिलता है। महादेवी जी ने स्वयं गीत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिकता वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति से ही है। साधारणत. गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके ? 'नीरजा' के गीतों में हम उक्त परिभाषा को पूर्णरूप से चरितार्थ होता हुआ पाते हैं।

'नीरजा के गीत-तत्व के मूल रूप को समझने के लिये उसकी अभि-व्यंजना-शैली के अन्य उपादनों का हृदयङ्गम करना भी आवश्यक है। महादेवी जी ने जिस युग में काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया, वह छायावाद का उत्कर्ष-काल था, छायावादी अभिव्यंजना इतनी परिपुष्ट और समृद्ध हो चुकी थी कि उसमें सामान्य कोटि के प्रतिभाहीन कवि के पाँव जमना सम्भव न था। महादेवी जी ने छायावादी काव्य-प्रणाली की अभिनव मान्यताओं को स्वीकार करके भी उसमें अपना व्यक्तित्व सबसे पृथक् रखा। इस व्यक्तित्व की स्थापना में उन्हें छायावादी प्रवृत्तियों में नूतनता का संचार करना पड़ा, जो उनकी रहस्यानुभूति का मूल बीज है।

महादेवी जी के कवि-व्यक्तित्व की विशिष्टता उनके काव्य-वैशिष्ट्य का प्राण है। छायावाद का मूल दर्शन समझने में उन्होंने अपना नवीन मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, और हमें यह कहने में संकोच नहीं कि छायावाद के मूल दर्शन को जिस गम्भीरता के साथ आपने पहचाना कदाचित् 'प्रसाद' जी को छोड़कर किसी अन्य छायावादी कवि ने उतनी व्यापकता से उसे ग्रहण नहीं किया। छायावाद के दर्शन का मूल उन्होंने 'सर्वात्मवाद' में बताकर अपनी काव्य-धारा में केवल प्रकृति के प्रति ही प्रीति व्यंजित नहीं की, प्रत्युत जड़-चेतन सभी में सार्वभौमिक प्रीति एवं प्रणय निवेदन किया। इस सर्वात्मवाद का आदर्श भले ही प्राचीन आत्मवादी दर्शनों या उपनिषदों के सदृश ब्रह्मपरक न हो, किन्तु इसमें प्रिय के प्रति आकुल आत्मा की पुकार बड़े ऊर्जस्वित स्वरों में

गूँजती है। उपनिषदों का आत्मवाद दर्शन के चक्रव्यूह में आकर फँस गया था और शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के प्रवर्त्तन से पहले तक वैराग्य-भावना के प्रचार का ही प्रकारान्तर से साधक बना रहा। महादेवीजी ने अपनी कविता में रहस्य-भावना को स्थान देते हुए यद्यपि अद्वैत मत की अवहेलना नहीं की है, किन्तु उनका अद्वैत काव्य की मृदुल-मोहक-सरणियों में होकर माधुर्यसिक्त हो गया है। उनकी रहस्य-भावना में भक्तों और निर्गुणियों की रूढ़ि के अनेक स्थलों पर समावेश होने का कारण भी उनकी आत्म-निवेदन की परम्परा तथा यही 'मधुरतम व्यक्तित्व की सृष्टि' कहा जाता है। काव्यात्मक परिच्छद में रहस्य-भावना के साथ ईश्वरोन्मुख प्रेम की अभिव्यक्ति चिर अनादि से चली आ रही है। कवयित्री ने 'नीरजा' में इस प्रकार के प्रेम का बड़ा सजीव और सुन्दर वर्णन किया है। इस वर्णन में जिस अलौकिक 'प्रिय' का आह्वान, मिलन, विछोह, निवेदन, उत्सर्ग और समर्पण है, वह भौतिक अस्तित्व न रखते हुए उसी प्रकार दिव्य और अपार्थिव है, जिस प्रकार कबीर, जायसी आदि की रहस्यवादी कविता में। अन्तर्मुखी भावनाओं की प्रधानता के कारण महादेवीजी अपनी रचनाओं में प्राकृतिक सुख-दुःख अथवा उसके सामंजस्य का कोई उल्लेख नहीं करतीं। प्राकृतिक दृश्यों का बाह्य अंकन भी इसी कारण उनकी कविता में अपेक्षाकृत विरल है। यह ठीक है कि अन्य छायावादी कवियों की भाँति वे भी प्राकृतिक पदार्थों को चेतन अस्तित्व प्रदान करती हैं, और कल्पना के द्वारा उन्हें मूर्त रूप देकर उनमें भावनाओं का आरोप भी करती हैं, किन्तु इस प्रक्रिया में उनकी अपनी मौलिकता निर्माण-चातुरी में है, उनके उपकरण अन्य छायावादी कवियों से कुछ इतर कोटि के होते हैं, इसलिए उन्हें छायावादी होने पर भी रहस्यवादी कोटि में मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। रहस्यवाद का प्रसार चिन्तन-क्षेत्र में ही होता है। अपनी पहली रचना 'नीहार' से ही महादेवी जी अद्वैतवाद का सहारा पाकर इस ओर अग्रसर हुई हैं, किन्तु 'नीरजा' में आकर चिन्तनमात्र से अद्वैत-भावना को पल्लवित नहीं करतीं। अनुभूति का आश्रय भी उनका सम्बल बनकर उन्हें रहस्योन्मुख करता है। 'नीरजा' की कविताओं में तो वे प्रियतम को अपने अन्तर में बसा हुआ देखकर तुष्ट भी होती हैं। आत्म-साक्षात्कार का आनन्द पाकर जैसे साधक परितोष पाता है, तत्सदृश परितोष-भाव 'नीरजा' की अनेक कविताओं में व्यक्त हुआ है। जिन कविताओं में कल्पना का विशेष आग्रह न होकर अनुभूति को चित्रित किया है, निस्सन्देह वहाँ काव्यानन्द के साथ एक प्रकार की नैसर्गिक रसानुभूति भी उपलब्ध होती है।

रहस्यवादी कविता में आत्मा और परमात्मा के विरह का वर्णन मिलन और दर्शन की अपेक्षा अधिक मार्मिक और आकर्षक होता है। 'नीरजा' में भी विरह-दशा का वर्णन बहुत ही मार्मिक तथा मनोरम है। प्रियतम के विरह से भी जीवन की सार्थकता का अनुभव हो सकता है, जीवन को विरह का जलजात बताते हुए 'नीरजा' के विरहजन्य उपादानों से ही जीवन-निर्माण का विवरण प्रस्तुत किया है :—

'विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात !
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात,
जीवन विरह का जलजात !
आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल,
तरल जलकण से बने घन-सा क्षणिक मृदु गात,
जीवन विरह का जलजात !'

प्रिय की अनुभूति के वर्णन अद्वैत-भावना के साथ 'नीरजा' में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं। मिलन का सान्निध्य पाकर आत्मा अहंकार से लुप्त नहीं होती वरन् वह बेसुध-सी होकर उसमें आनन्द-मुग्ध रहती है, उसे प्रिय-परिचय की आकांक्षा भी नहीं रहती, जग-परिचय की इच्छा नहीं रहती, स्वर्ग और अपवर्ग में लय होने की स्पृहा भी निश्शेष हो जाती है :—

'तुम मुझमें प्रिय ! फिर परिचय क्या !
तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,
भर लाई हूँ तेरी चंचल,
और करूँ जग में संचय क्या,
तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या !'

छायावाद के रहस्य-वर्णन में अद्वैत और द्वैत दोनों का सार्थक मिश्रण कल्पनात्मक शैली में—हुआ किया है, यह 'निराला' के 'तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता' [illegible] है। यथार्थ में, [illegible] और प्रियतम के पृथक् अस्तित्व का [illegible] आरम्भ है।

उसे समझने से दोनों की एकता समझी जा सकती है। वह एकता दार्शनिक शब्दों में 'प्रशांशिभाव' या 'अग्निस्फुलिंग' भाव से व्यक्त होती है किन्तु कवयित्री ने दार्शनिकता का आश्रय न लेकर काव्य में ही दर्शन को सरस शैली से समावेश किया है :—

> 'चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम,
> मधुर राग तू, मैं स्वर संगम,
> तू असीम, मैं सीमा का भ्रम,
> काया छाया मैं रहस्यमय।
> प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या!"

संसार के समस्त पदार्थों में गति और परिवर्तन उपस्थित करने वाला असीम शक्ति सम्पन्न प्रिय विश्व के कण-कण में व्याप्त रहकर भी हमें दूर लगता है और विरही आत्मा युग-युगान्तर से करुण विलाप करके उस की वियोग-ज्वाला में जलती रहती है। 'नीरजा' के 'पथ देख बिता दी रैन प्रिय पहचानी नहीं'—गीत में प्राकृतिक दृश्यों की अवतारणा करके इस भाव को बड़ी सरस शैली से व्यक्त किया है। अपनी रहस्यनुभूति को लौकिक रूपक के द्वारा व्यक्त करने में महादेवी जी को आशातीत सफलता मिली है। 'रश्मि, और 'नीहार' में भी लौकिक रूपकों की प्रचुरता है, किन्तु नीरजा' में तो यह छवि देखते ही बनती है। इन रूपकों में भी छटा उस स्थल में और देदीप्यमान हो जाती है जब कवयित्री अपने अन्तर के हर्षातिरेक में बेसुध होकर गीत लिखने बैठती है। हृदय की सच्ची अनुभूति के अंकन में लीन हो कर जब वे गा उठती हैं तब उस में न कहीं कृत्रिमता रहती है और न कहीं अस्पष्टता। नीचे के गीत में स्वाभाविक सरल भाव की स्निग्ध व्यंजना देखकर महादेवी जी की कला का मूल्यांकन करिए :—

> बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ!
> नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
> शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
> फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
> एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,
> दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ!
> नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
> त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी,

तार भी आघात भी झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ,
बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ ।,

आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन 'नीरजा' के गीतों में प्रचुर मात्रा में है । रहस्यवाद की भावना को व्यक्त करने के लिये साधारणतः चार मुख्य स्तरों का क्रमिक विकास होता है जो महादेवी जी की 'यामा' में संकलित चारों कृतियों में देखा जा सकता है । वैयक्तिक सुख-दुख की सीमा को पार कर जब आत्मा दुख वेदना के द्वारा भी सुख और हर्ष का अनुभव करने लगती है तभी भावात्मक रहस्यवाद का परम उत्कर्ष काव्य में आता है । भावनात्मक रहस्यवाद के चित्र प्रस्तुत करने वाले कवि में लौकिक सुख-दुख को अलौकिक में लीन करने की क्षमता होना अनिवार्य है । महादेवी जी ने स्वयं लिखा है—'नीरजा' और 'सांध्यगीत' मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगता है ।' यही कारण है कि 'नीरजा' में व्यक्त वेदना के गीत आनन्द का पथ प्रशस्त करते हैं, दुख का नहीं । यह वेदना अलौकिक होकर आत्मानन्द से पूर्ण हो जाती है, और प्रियतम के पास ले जाने में सहायक होती है । 'नीरजा' का पहला गीत जिस अश्रु-नीर को लेकर अवतीर्ण होता है वह 'दुख से आविल सुख से पंकिल' है । वह 'जीवन पथ का दुर्गमतम तम, अपनी गति से कर सजल सरल' सुख-तृषित तीर को शीतल करता है । 'कौन तुम मेरे हृदय में' गीत लिखते हुए भी इसी प्रकार की वेदना के मधुर रूप को व्यक्त किया गया है । 'पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में ?' कह कर वेदना द्वारा ही उस की प्राप्ति कही गई है । वेदना और दुख की स्थिति को महादेवी जी सदैव उच्च स्थान देती हैं । "दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है ।' दुख के आध्यात्मिक रूप को उन्होंने अपनी कविता में मुखरित किया है । प्रियतम के आह्वान में भी दुख-मार्ग का संकेत इस बात का द्योतक है कि वे दुःख को त्याग, उत्सर्ग और समर्पण का साथी-संगी मानती हैं ।

दुखवाद 'नीरजा' के गीतों में जहाँ कहीं व्यक्त हुआ है वहाँ लौकिक सीमाओं से ऊपर अलौकिक आनन्द-पथ को प्रशस्त करता हुआ ही है :—

तुम दुःख बन इस पथ से आना !
शूलों में नित मृदु पाटल-सा, खिलने देना मेरा जीवन,
क्या हार बनेगा वह जिसने सीखा न हृदय को बिंधवाना
नित जलता रहने दो तिल तिल, अपनी ज्वाला में उर मेरा,
इस की विभूति में, फिर आकर अपने पद-चिन्ह बना जाना
तुम दुःख बन इस पथ से आना !

दुःख में अपने अस्तित्व को लीन करके आत्मानन्द लाभ करना ही जीवन की सार्थकता है। 'मिटने वालों की बेसुध रंगरलियाँ ही विश्व में सौरभ, सुख *आलोक और हास्य की सृष्टि करती हैं।*

'मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू लड़ियाँ देखो
मेरे गीले पलक छुओ मत मुर्झाई कलियाँ देखो'

उपर्युक्त पंक्तियों में इसी भाव की सुन्दरतम व्यंजना है।

इस दुःख से संतप्त होने पर आत्मा की तितिक्षा इतनी हो जाती है कि वह सब-कुछ सहने में अपने को समर्थ पाती है मृत्यु का भी भय उसे रंच मात्र आतंकित नहीं करता। संसार की समस्त विभीषिकाओं पर विजय पाकर परमात्मा के मिलन के लिये उन्मुख आत्मा सतत अपने पथ पर अग्रसर होती रहती है ::—

'कमलदल पर किरण अंकित चित्र हूँ मै क्या चितेरे ?
हे युगों का मूक परिचय इस देश से इस राह से,
हो गई सुरभित यहा की रेणु मेरी चाह से,
नाश के निश्वास से मिट पायेंगे क्या चिन्ह मेरे ?
नाच उठते निमिष पल मेरे चरण की चाप से,
नाप ली निस्सीमता मैंने दृगों की माप से,
मृत्यु के उर में समा क्या पायेंगे अब प्राण मेरे ?

प्रिय को अद्वैत-भाव के साथ अपने भीतर-बाहर समाविष्ट पाकर साधिका को उसकी पूजा-अर्चा का उपक्रम आडम्बर प्रतीत होता है। अपने जीवन को ही वह असीम का सुन्दर मन्दिर मानती है और फिर 'क्या पूजा क्या अर्चन रे!' कहकर इस बाह्याडम्बर की उपेक्षा करती है सचमुच ही 'नीरजा' के विरह, दुःख, वियोग, और अद्वैतपरक गीतों में एक ऐसी दीप्ति है जो एक साथ मानस को आलोक से परिपूर्ण कर देती है। जैसे रात्रि के तमाच्छन्न आकाश

में उल्का का प्रकाश सहसा फैलाकर उजियाले की दिव्य छटा दिखाता वैसे ही इन गीतों का आलोक भी, जहाँ कहीं गम्भीर चिन्तन में कवयित्री नहीं उतरी है, वहाँ काव्य के चरम सौन्दर्य का दर्शन कराता है।

'नीरजा' में महादेवी जी की चिन्तन-दिशा में अवश्य उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व के साथ इसमें प्रकृति या विश्व का अस्तित्व भी रागात्मक संबंध स्थापित करता हुआ दृष्टिगत होता है। द्वैत-रहित होकर ही संकल्प-विकल्प की द्विविधा मिटती हैं। जब कोई भिन्नता नहीं रह जाती तब फिर यह जड़ चेतन सभी तद्रूप भासने लगते हैं :—

'यह क्षण क्या द्रुत मेरा स्पन्दन,
यह रज क्या नव मेरा मृदुतन,
यह जग क्या लघु मेरा दर्पण,
प्रिय तुम क्या चिर मेरे जीवन!"

'नीहार' और 'रश्मि' की कविताओं में प्रकृति उन के साथ सहानुभूति प्रकट करती थी, किंतु 'नीरजा' में आकर कवयित्री को विश्वास हो चला है कि उन के प्रिय के आगमन की बेला सन्निकट है। उनके आगमन से पहले चिर-सुहागिनी का आभरण उन्हें अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर सजाना है। अतः वसन्त-रजनी को शृंगार करने के लिये उत्साहित करती है—प्रकृति की वसन्तकालीन छटा का भी इसी प्रसङ्ग में चित्रण कवयित्री ने किया है:—

'तारकमय नव वेणी बन्धन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि वलय सित घन अवगुण्ठन
मुक्ताहल अविराम बिछादे चितवन से अपनी
पुलकती आ वसन्त-रजनी।'

'नीरजा' की मूल भावना का यथार्थ परिचय देने वाली 'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल' कविता है। इस गीत में दीपक कवि के व्यक्तित्व का प्रतीक है। अपने सुकुमार-कोमल शरीर को, अपने जीवन के प्रत्येक अणु को दीपक की वर्तिका की भाँति जलाती हुई कवयित्री अपने प्रियतम का पथ आलोकित करना चाहती है। अपने को मोम की भाँति गलाकर आलोक फैलाने वाली दीपशिखा में विश्व-कल्याण और संसार-सेवा का जो उदात्त आदर्श दृष्टिगत होता है वह काव्य का ही नहीं, समाज का आदर्श है।—

कि—"शिलीमुख शब्द का एक और अर्थ भी है। मैं रस के लिए भटकता हूँ, और अनेक जगह व्यर्थ, जहाँ सिवाय चटक के कुछ नहीं पाता। उस समय यदि आप चाहो तो अपनी शब्दावली में कह सकते हो कि मैं भिनभिनाने लगता हूँ।" कुछ भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शिलीमुखजी एक बेलाग आलोचक हैं, जो प्रारम्भ से ही अपनी स्पष्टवादिता और खरी अभिव्यक्ति के कारण अपना स्वतन्त्र स्थान बनाए हुए हैं। किसी घिसी-पिटी लीक को अपना कर आप नहीं चले और न किसी की प्रतिभा से प्रभावित होकर आपने अपनी लेखनी में अनुसरण या अनुकृति के बीज पनपने दिये।

शिलीमुखजी के समालोचक रूप का उदय और द्विवेदी युग के बाद हिन्दी समालोचना का सुव्यवस्थित रूप से विकास लगभग एक ही समय में हुआ। सन् १९२३-२४ में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में हिन्दी एम. ए. कक्षाओं को समालोचना-शास्त्र का विधिवत् अध्ययन-अध्यापन करने की आवश्यकता अनुभव हुई और तभी समालोचना को सैद्धान्तिक पक्ष में, एक शास्त्र के रूप में और दूसरी ओर प्रयोग-पक्ष में, कला के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता हुई। हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी-अध्यापक बाबू श्यामसुन्दरदास और प० रामचन्द्र शुक्ल क्रमशः इन दोनों पक्षों की ओर रचनात्मक रूप में प्रवृत्त हुए। इनसे पहले हिन्दी समालोचना में साहित्य के सिद्धान्त-पक्ष के नाम पर कोई उल्लेख्य स्वतन्त्र प्रयास हुआ ही न था। प्रयोग-पक्ष में मिश्रबंधुओं का 'हिन्दी नवरत्न', कृष्णविहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और दीनजी का 'देव और बिहारी', 'बिहारी और देव' सम्बन्धी विवाद तथा दो-चार प्राचीन कवियों की अलंकाराश्रयी अथवा गुणदोष-दर्शनमयी, स्तुति-निन्दापरक प्रशस्तियाँ ही उपलब्ध थीं। नवीन लेखकों में मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों पर प्रचारोद्दिष्ट भावना से कतिपय लेख लिखे गये थे जो आलोचना-तत्त्व की दृष्टि से प्रायः शून्य ही थे। मिश्रबन्धुओं की आलोचना-पद्धति सामान्य गुण-दोष-दर्शन से ऊपर कभी नहीं उठी। रस, अलंकार, पिंगल और भाषा के दायरे में काव्य-कृतियों को परखने वाले पारखी और भी पैदा हुए थे, किन्तु काव्यकृतियों का सर्वांगीण रूप से मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति या शक्ति आचार्य शुक्ल से पहले किसी में देखने में नहीं आई। पंडित पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन और पं० कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना में सूझबूझ और ऊहापोह के तत्त्व अवश्य मिलते हैं। इन आलोचनाओं के बारे में कहा जा सकता है कि वह अधिकतर दरबारी

ढंग की ही थी। उनमें गाम्भीर्य, विवेचन और यथार्थ मूल्यांकन का अभाव सदा खटकता रहा।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में आलोचना के क्षेत्र में दो विद्वानों द्वारा सैद्धान्तिक और प्रायोगिक समीक्षा का प्राथमिक रूप आलोचना-शास्त्र के प्राच्य तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का अध्ययन था। फलत: तुलसी, सूर और जायसी पर पंडित रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनाओं में हमें पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन और शास्त्र के प्रयोग का अति विशुद्ध रूप दृष्टिगोचर होता है। पाण्डित्यपूर्ण शास्त्र-प्रयोग का यह रूप आलोचक की सवेदनशीलता और सहानुभूतिमय दृष्टिकोण से निखरकर इतना उज्ज्वल और उत्कृष्ट हो गया है कि अपने ढंग में अभी तक अद्वितीय है, लगता है कि भविष्य में भी वह अद्वितीय ही रहेगा। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के उपरान्त हमें उन चार-पाँच वर्षों में किसी दूसरे ऐसे समर्थ समालोचक के दर्शन नहीं होते जो गाम्भीर्य या प्रायोगिक शैली की पाण्डित्यपूर्ण समीक्षा लिखने की क्षमता जुटा सका हो। इस प्रसंग में हमें यह लिखते हुए हर्ष होता है कि शिलीमुखजी ही एक ऐसे आलोचक थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा से समीक्षा-क्षेत्र में नवीनता का आभास दिया। यदि एक कदम और आगे बढ़कर यह भी कह दिया जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी कि शुक्ल जी के समसामयिक लेखकों में शिलीमुखजी की लेखन-शैली अपेक्षाकृत सबसे अधिक मौलिक और आकर्षक थी। उस युग में शिलीमुखजी एक स्वतन्त्र, निर्भीक, साहसी और स्पष्टवादी आलोचक के रूप में हमारे कौतूहल और विस्मय को उकसा कर हमें सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं; क्योंकि आलोचना क्षेत्र में वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने किसी भी समसामयिक और जीवित लेखक पर लिखते समय मिथ्या औपचारिक शिष्टाचार के फेर में न पड़कर, अपने अनुकूल प्रतिकूल विचारों को निर्भयतापूर्वक प्रकट किया। निस्सन्देह उन दिनों यह बड़े साहस का काम था। अपनी स्वतन्त्र शैली का अवलम्बन कर, मौलिक दृष्टिकोण से जिसका रूढ़िबद्ध आलोचना को सकीर्णता के पाश से मुक्त कर उसके क्षेत्र और आवरण में नये विकास का पथ प्रशस्त करना था। कहना न होगा कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना को यदि गाम्भीर्य अध्ययन का पाण्डित्य और गाम्भीर्य प्रदान किया तो शिलीमुखजी ने उसे विचार और अभिव्यंजना का एक नवीन रूप, नया मार्ग, और नया क्षेत्र प्रदान किया। शिलीमुखजी की समीक्षा में, लिखने की प्रवृत्ति में किसी प्रकार की बाह्य परिस्थिति या दबाव कारण न था, केवल अन्तःप्रेरणा से ही वे आलोचना-क्षेत्र

में आये थे, अतः निसर्गतः वे अधिक मौलिक रहे। प्रेरणा का मूल यदि परिस्थिति का दबाव या आवश्यकता होता तो निश्चय ही अभिव्यक्ति पर उसका घातक प्रभाव पड़ता, किन्तु शिलीमुखजी के सामने किसी प्रकार की ऐसी भावना कभी नहीं रही।

आलोचक का कार्य-भार त्रिगुण है। काव्यकृति को पढ़ना, पढ़कर समझना और समझ कर यथार्थ रूप में मूल्यांकन करना आलोचक का पहला प्रमुख कर्त्तव्य है। यदि कोई आलोचक इस कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता तो वह कृति के विषय में कुछ भी कहने का अधिकारी नहीं। पढ़ने, समझने और यथार्थ रूप में देखने के बाद आलोचक का दूसरा दायित्व यह है कि वह अपने उपार्जित ज्ञान और प्रभाव को अन्य पाठकों के लिए हस्तान्तरित करे। जिस प्रकार प्रचारक अपनी मान्यताओं को दूसरे श्रोताओं तक पहुँचाता है ठीक उसी प्रकार आलोचक भी अपनी उपार्जित मान्यताओं को हस्तान्तरित करता है। रचनात्मक शक्ति की क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना आलोचक का तीसरा कर्त्तव्य है जो अपेक्षाकृत अधिक दुरूह और दायित्वपूर्ण है। आलोचना पढ़कर यदि रचनात्मक शक्ति का विकास न हो तो आलोचना की उपादेयता ही क्या ! आलोचना तो रचना की पूरक कृति है जो कलाकार, काव्यकृति और सहृदय पाठक तीनों के त्रिकोण को जोड़ती है—एक त्रिभुज बनाने की क्षमता रखती है। शिलीमुखजी की आलोचनाओं में हमें इस कर्त्तव्य का निर्वाह बड़ी ही समीचीन शैली से होता हुआ दीख पड़ता है। वे पाठक को कलाकार और काव्यकृति के साथ इतने सुदृढ़ बंधनों में बाँध सकते हैं कि उनकी समीक्षा को पढ़कर सहृदय पाठक आलोच्य कृति और उसके कृतित्व को स्वतंत्र रूप से आँकने की क्षमता जुटा सकता है।

यथार्थ में समालोचक का कर्त्तव्य है कि वह कलाकार के कृतित्व अथवा कृति के यथार्थ रूप को समझने और परखने में पाठक की सहायता करे जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्याख्यात्मक समालोचनाओं ने किया है। आलोचक का दूसरा बड़ा कार्य उसकी निर्माण-शक्ति में है जिसमें वह वर्तमान और भविष्य के साहित्य को किसी विशेष प्रकार की प्रेरणा देता है। शिलीमुखजी की प्रारम्भिक रचनाओं ने दोनों कार्य किये हैं। निस्संदेह, उनकी प्रारम्भिक आलोचनाएँ कृतित्व के विश्लेषण में तीक्ष्ण ढंग से पूर्ण हैं किन्तु यह ढंग स्वस्थ-साहित्य के निर्माण के पथ को प्रशस्त करता है, कंटकित नहीं। शिलीमुखजी की उस काल की आलोचनाओं का यदि भली भाँति अध्ययन किया जाय तो हम

यह स्पष्ट देखते हैं कि साहित्य का मूल्यांकन करने के साथ उसमें निर्माण का सन्देश है, अतः उनका साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है।

शिलीमुखजी ने प्रारम्भ में प्रेमचन्द और प्रसाद की कृतियों पर समीक्षाएं लिखीं। प्रेमचन्द की कहानी-कला और प्रसाद की नाट्य-कला को उन्होंने केवल शास्त्रीय मानदंडों से नहीं नापा अपितु व्यक्तिगत प्रतिभा के द्वारा इनके कृतित्व की परख की। शास्त्रीय मानदंडों से हटकर वैयक्तिक प्रतिभा का प्रयोग उस समय रामचन्द्र शुक्ल के सिवा कोई और आलोचक न कर सकता था—और शुक्लजी भी शास्त्र की पृष्ठभूमि पर ही अपनी प्रतिभा का प्रयोग करते थे। शिलीमुखजी ने ही सर्वप्रथम शास्त्रालोचन की अपेक्षा प्रतिभा को प्रमुखता दी। प्रसिद्ध जर्मन आलोचक लेसिंग के मतानुसार तो "प्रतिभा ही सब शास्त्रों के ऊपर है। जो कुछ प्रतिभा कर डालती है वही बाद में नियम बन जाता है। प्रतिभाशाली लेखक सदा अच्छा का आलोचक होता है, उसके अन्तस्तल में सब नियमों का साक्ष्य होता है जो कि उन नियमों में से उन्हीं को पकड़ता, याद रखता और मानता है जो उसके अपने भाव व्यक्त करने में उपयोगी होते हैं।" दरअसल, सचाई तो यही है कि नियमों के अत्याचारों से जिस प्रकार काव्य-रचना मुक्त होने के लिए छटपटाती रहती है उसी प्रकार आलोचना भी शास्त्र के रूढ़ि-बंधनों में क्यों बंधी रहे?

शिलीमुखजी की आलोचनाओं के प्रयोग-पक्ष पर विचार करते समय हमें आलोचक की वाणी के मूलस्वर को भूलना नहीं चाहिए। प्राचीन कवि सूर, मीरा, तुलसी तथा आधुनिक कलाकार प्रेमचन्द, प्रसाद और कतिपय वर्तमानकालिक कवियों पर प्रायोगिक पद्धति से समीक्षा लिखते समय शिलीमुखजी का रस-संचय करने का स्वभाव यदि कहीं 'भिनभिनाने' के रूप में गूंजने लगता है तो पाठक को खिन्न होने की आवश्यकता नहीं। रसलोलुप मधुप यदि पुष्प में पराग या रस नहीं पाता तो वह बेचारा करे भी क्या, अपने प्रयत्न पर खीज और झुंझलाहट होना तो उसके लिए किसी हद तक स्वाभाविक भी है। इन प्रायोगिक आलोचनाओं में कटुता या व्यंग्य की मार्मिक चुटकी देखकर पाठक को मिथ्या धारणा बनाने का अवकाश न हो, इसलिए हम शिलीमुखजी की आलोचना का आधार स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं।

आलोचक का कर्म कठोर होता है। आलोच्य कृति की परख, भाव-बोध या मूल्यांकन के लिए वह सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा कृति के उन स्तरों में प्रवेश

करता है जहाँ कलाकार की साहित्य-साधना का मूल-बीज निहित होता है। सच्चा आलोचक न तो अर्थवादों द्वारा शासित होता है और न प्रशंसात्मक प्रचार से प्रभावित ही। कृति के मूल्यांकन के लिए आलोचक अपने स्वतन्त्र, मौलिक दृष्टिकोण के प्रयोग द्वारा काव्य-शास्त्र से पथ-प्रदर्शन मात्र ग्रहण करता है। शास्त्र की ध्वनि ही उसके लिए पर्याप्त है, अक्षरशः शास्त्रानुसरण अनिवार्य नहीं। यथार्थ समीक्षा के लिए आलोचक को कृति के उन गुह्य स्तरों में झाँकना होता है जहाँ सत्य के आवरण में असत्य, शिव के बाने में अशिव और सुन्दर की भूमिका में असुन्दर छिपा बैठा है। छिद्रान्वेषण या प्रशस्ति-पाठ से ऊपर उठकर यथार्थ का उद्‌घाटन ही उसका विशिष्ट धर्म है। व्याघ्र चर्मावृत रासभ को यदि वह न पहचान पाया तो सत्यान्वेषण की कसौटी पर खरा कैसे उतरेगा। आलोचक में मेधा की प्रखरता के साथ सन्तुलित विवेक, निष्पक्ष दृष्टि-निक्षेप, कलाकृति के प्रति रसग्राहिता तथा अभिव्यक्ति में वाणी-संयम की अनिवार्य आवश्यकता मानी जाती है। स्वस्थ और सफल समालोचक सहानुभूति तत्त्व की उपेक्षा करके समीक्षा में प्रवृत्त नहीं होते और कदापि वे निर्मम भाव से कलम को छूट नहीं देते। फलतः समालोचक कलाकृति के बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप की विवृति के लिए जिस मानदंड का उपयोग करता है उसका मूलाधार शास्त्र-सिद्धान्त भले ही हो, किन्तु व्यक्तिगत, प्रतिभा, और व्यक्तिगत प्रभाव एवं रसग्राहिता का पुट उसमें प्रधान रहता है। साहित्य का रस लेने की क्षमता सहृदय रसिक भावुक में भी होती है। किन्तु उसकी यथार्थ आलोचना की योग्यता तो रसज्ञ या भावक में ही पाई जाती है। साहित्य का रसास्वादन अपेक्षाकृत एक सीमित, निष्क्रिय-मूक मानस-व्यापार है जबकि आलोचना इसके ठीक विपरीत सक्रिय, मुखर और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने का साधन भी है। स्मरण रहे कि इसी कारण प्रभावशाली आलोचक जहाँ पाठकों को नूतन दृष्टि प्रदान करते हैं वहाँ साथ ही साथ लेखकों में भी परिवर्तन ला देते हैं। आलोचक की भावयित्री प्रतिभा के मूल उपादानों में भावुकता, रसग्राहिता और बौद्धिकता की आवश्यकता का यह भी एक विशिष्ट कारण है।

आलोचक के कर्म की उपर्युक्त पंक्तियों में जो मीमांसा हुई है उसके आधार पर यदि हम शिलीमुखजी की समालोचनाओं पर दृष्टिपात करें तो हमें उसमें अनेक सराहनीय तत्त्वों का समावेश मिलता है। हिन्दी समीक्षा-साहित्य की अर्द्ध-शती के जीवन का सिंहावलोकन करने पर स्थायी प्रभाव और पथ-

निर्देश करने की क्षमता रखने वाले आलोचक इने-गिने हैं। आचार्य शुक्ल की परम्परा में चलने वाले आलोचकों में भी वह तेज और उत्कर्ष दृष्टिगत नहीं होता जो शुक्लजी की कलम में था। हाँ, शिलीमुखजी अपनी मौलिकता और निर्भीकता के कारण पाठक का ध्यान आकृष्ट करने वाले इस कोटि के सक्षम आलोचक हैं। प्राचीन और नवीन शैली का समन्वय करके शिलीमुखजी ने अपनी आलोचनाओं को सुग्राह्य बनाया है।

शिलीमुखजी की प्रारम्भिक समीक्षा-पुस्तकों में 'प्रसाद की नाट्यकला', 'आलोचना समुच्चय' (प्राचीन और नवीन कवियों की संक्षिप्त आलोचना), 'शिलीमुखी', 'आधुनिक हिन्दी कहानियाँ' (भूमिका-भाग आलोचनात्मक है) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'कला और सौन्दर्य' तथा 'निबन्ध-प्रबन्ध' भी आपकी निबन्ध-शैली के सुथरे रूप को प्रस्तुत करने वाले दो निबन्ध-संग्रह हैं। पत्र-पत्रिकाओं में फुटकर लेखों द्वारा आपने समीक्षा-साहित्य को जो भेंट प्रदान की है उसका भी अपना विशिष्ट स्थान है।

शिलीमुखजी की प्रेमचन्द-सम्बन्धी आलोचनाएँ जिस समय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं उस समय कुछ लोगों को वे अरोचक प्रतीत हुईं। प्रेमचन्दजी को भी स्वयं वे अच्छी नहीं लगीं। किन्तु हम इतना स्पष्ट देखते हैं कि प्रेमचन्दजी की लेखन-प्रणाली और विचारों में इन आलोचनाओं द्वारा स्पष्ट रूप से संस्कार हुआ। कहानी और उपन्यास के सिवा प्रेमचन्दजी ने जो दूसरे लेख बाद में लिखे हैं वे अधिक गंभीर, विवेचनात्मक और परिष्कृत होते गये। पहले प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में आदर्शवाद का आग्रह विशेष रूप से दिखाते थे, बाद में वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पक्षपाती हो गये। इसी प्रकार अपने बाद के लेखों में उन्होंने 'असीम से ससीम और ससीम से असीम' की बात स्वीकार कर इन लेखों में उठाई गई वर्गवाद के विरुद्ध आवाज को ही रूपांतर में स्वीकार कर लिया है और जीवन की विराट् विविधता में समन्वय के मर्म को ग्रहण करने की उदात्त चेष्टा की है। हम यह भी देखते हैं कि इन समालोचनाओं के बाद में प्रकाशित प्रेमचन्द के उपन्यास—'गबन' और 'गोदान'—में वर्गीय कट्टरता का वह रूप नहीं है जो पहले के 'सेवासदन', 'कायाकल्प' और 'प्रेमाश्रम' में था। लगभग इसी तीन-चार वर्ष के समय में शिलीमुखजी की 'हिन्दी कहानियों की भूमिका' पाठकों के सामने आई थी। निश्चय ही इस भूमिका में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर संवेदना-तत्व को प्रेमचन्द जी ने कहानी के लिए आवश्यक तत्व स्वीकार किया। उपन्यास और

कहानी की संवेदना का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए शिलीमुखजी ने अपनी इस विस्तृत भूमिका में बड़ा ही सूक्ष्म और पांडित्यपूर्ण वर्णन किया है। शिलीमुख जी ने लिखा है कि—"उपन्यास की संवेदनाओं का उद्देश्य पृथक्-पृथक् प्रभावित करना नहीं है, बल्कि वह परिस्थिति या पात्रों के एक वातावरण को संवेदना उपस्थित करता है और समस्त उपन्यास की संवेदना इन तमाम संवेदनाओं की समष्टि होती है। कहानी की संवेदना सबसे पृथक् रहती है इसलिए उसे तीव्रतम होने की आवश्यकता है।" कहानी के विषय में प्रेमचन्दजी ने इस तत्त्व को बाद में स्वीकार किया था और अपनी कहानी-कला में भी इसे अपनाया। शिलीमुखजी की आलोचना का प्रभाव प्रसाद-सदृश शक्तिशाली विभूति पर भी पड़ा। प्रसाद के नाटकों की आलोचना करते समय कतिपय सुझाव शिलीमुखजी ने रखे थे और कुछ खटकने वाली त्रुटियों की ओर भी प्रसादजी का ध्यान आकृष्ट किया था। प्रसादजी के बाद के नाटकों में उन त्रुटियों का परिहार हुआ और शिलीमुखजी के समीक्षात्मक सुझावों को भी प्रसादजी ने स्वीकार कर अगले नाटकों में उनका प्रयोग किया।

शिलीमुख जी की उस समय की रचनाओं से तत्कालीन साहित्य को मिलने वाली प्रेरणा का अन्यतम रूप यह भी है कि जहाँ एक ओर 'प्रसाद की नाट्यकला' के बाद उनके ढंग की अन्य पुस्तकें हिन्दी में लिखी जाने लगीं वहाँ दूसरी ओर समसामयिक लेखकों और कवियों पर आलोचनाएँ लिखने का भी लोगों में साहस उत्पन्न हुआ। कहानी-कला पर कई अन्य आलोचकों के लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपे और कहानी-कला के अन्तरंग-बहिरंग का मर्म स्पष्ट रूप से पाठक के समक्ष उपस्थित हो सका। साहित्य-निर्माण के इस कार्य के अतिरिक्त इन प्रारम्भिक लेखों ने लोक-रुचि को विवेचनात्मक बनाने में पथ-प्रदर्शन का जो कार्य किया वह भी सराहनीय है। ऊपर कहा जा चुका कि शिलीमुखजी के आलोचना-क्षेत्र में आने से पहले समसामयिक कलाकारों पर कलम उठाने का द्वार उन्मुक्त नहीं हुआ था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को छोड़कर और कोई आलोचक प्राचीन कवियों पर भी सर्वांगीण समालोचना प्रस्तुत न कर सका था। प्रेमचन्दजी के विषय में दो-चार समालोचनापरक लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपे थे, किन्तु वे अतिरंजित प्रशंसापरक ही थे। शिलीमुख जी के पदार्पण करते ही आलोचना का नवीन रूप पाकर लोक-चेतना में कुतूहल जागृत हुआ और पाठक को निश्चय हुआ कि कोरी प्रशंसा का ही नाम आलोचना नहीं है। कोरे चमत्कार के जाल में उलझा रखनेवाली आलोचना सही समालोचना नहीं

होती। जीवन से असम्पृक्त शास्त्रीय पद्धति पर गुण-दोष-कथन मात्र से भी समालोचक का कर्त्तव्य पूरा नहीं होता। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना में विचार और चिन्तन की प्रौढ़ता तथा अभिव्यंजना में नूतनता लाने का श्रेय शिलीमुखजी को ही प्राप्त है।

शिलीमुखजी की लेखन-कला या अभिव्यंजना-शैली एकदम अपनी है। आलोच्य कृति की मीमांसा उनका लक्ष्य रहता है। लक्ष्य से इधर-उधर हटकर भाषा के वाग्जाल में उलझना उनका स्वभाव नहीं है। वैसे वे प्रकृत भाषा में विश्वास रखते हैं। तत्सम-प्रधान संस्कृत-गर्भित पदावली के साथ बोलचाल के प्रचलित उर्दू-फ़ारसी शब्दों से भी आपकी भाषा सजी रहती है। एक ही लेख में पचासों शब्द उर्दू शैली के मिल सकते हैं। हुकूमत, फ़ुर्सत, फ़ुरत, हिमायती आदि अनेक शब्द आपकी भाषा के अंग बने हुए हैं। संस्कृत शब्दों में भी आप विकल्प से बने हुए रूप को ही ग्रहण करते हैं जैसे उद्देश्य के स्थान पर उद्देश। अभिव्यक्ति को कृत्रिम रूप से प्रौढ़ बनाने के आप पक्ष में नहीं हैं। वैसे विशिष्ट विषयों के प्रतिपादन में आपकी भाषा बहुत ही प्रौढ़ और प्रांजल दीख पड़ती है। 'कला और सौन्दर्य' नामक पुस्तक में संकलित आपके निबन्ध इसी कोटि के हैं। "साहित्य और जीवन" शीर्षक निबंध की भाषा हमारे कथन की साक्षी है। एक अनुच्छेद उदाहरण रूप में उद्धृत किया जाता है—

"पुनः सामाजिकता की वर्तमान जटिलता और असम्बद्धतात्मकता अनवा-वसान और स्थानावदान में अभ्यस्त प्रत्यावर्तन हमारी विशाल बहिर्मुख-कल्पना को जितना ही अधिक पूर्णित बनाती है उतना ही अधिक भाव-जीवन का अवसाद बढ़ता और महत्त्व को प्राप्त होता जाता है।" "जीवन-रूप अभिव्यं-जन में विलासिता के समन्वय की एक प्रक्रिया और है, जो उसके साहित्य रूप में अधिक स्पष्ट, सशक्त और व्यक्तित्वमय बन जाती है।"

शैली और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में शिलीमुखजी के अपने स्पष्ट विचार हैं जो उनकी पुस्तक 'निबन्ध प्रबंध' के प्रथम लेख 'निबन्ध की रूपरेखा' में व्यक्त हुए हैं। 'कला और सौन्दर्य' के विषय में लेखक के विचार उनकी इसी नाम की पुस्तक में हैं। कला की सामाजिकता का अर्थ, इन्हीं के शब्दों में, "जहाँ एक ओर व्यवहार को संस्कृति प्रदान करता है वहाँ दूसरी ओर उस संस्कृति की विधि का निर्णय करना भी है। मानस-पुरुष-कर्त्री सौन्दर्य-वृत्ति अभ्यास है और कला उसकी अभ्यास-पद्धति है।"

हिन्दी समालोचना में शिलीमुखजी का 'समालोचकनामा' शीर्षक लेख अपना विशेष स्थान रखता है। वह केवल शिलीमुखजी की ही आलोचना-पद्धति का उद्घाटन नहीं करता वरन् समालोचक-सामान्य के गुण, वृत्ति, आवरण और सीमा का संकेत देने वाला अपूर्व निबंध है। इस निबंध को आलोचना के मौलिक सिद्धान्तों का प्रदर्शक 'कोड' कहा जा सकता है। यह ठीक है कि समालोचना का ऐसा सुनिश्चित कोई 'कोड' अभी तक नहीं बना है, फिर भी समीक्षा के मूल तत्त्वों का संकेत इस निबंध में है। इस निबंध में शिलीमुख जी लिखते हैं कि—

"स्वयं आलोचक शब्द से बढ़कर आलोचक शब्द की और क्या व्याख्या होगी। आलोचक तो वही है जो आलोचक है। 'आसमन्तात् लोचते पश्यते इति आलोचकः।' जो समन्तात्, सब तरफ देखता है वह आलोचक है—इस दृष्टि से कवि सबसे पहला आलोचक है। आर्नल्ड के समय से हमें कवि को जीवन का आलोचक मानते रहने का अभ्यास हो गया है। कवि के बाद हमारे तथाकथित समालोचक को इस नाम से पुकारे जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। पर कवि पर हम आलोचक का भार नहीं रखते; क्या कारण है ? कारण यह है कि आलोचना का अर्थ हम शास्त्रीय अभियोग के वाक्य-समूह को ही समझते हैं, और उस अवस्था में यह आवश्यक नहीं माना जाता कि कवि शास्त्रीय रुचि या ज्ञान को अपनाये ही। × × ×। समालोचक को कम-से-कम समालोचना के समय तो पूर्ण मनुष्य हृदय वाला हो ही जाना चाहिए। × ×। उसका पहला दृष्टिकोण विशाल मानवता है। × ×। यदि समालोचक में यह है तो उसको शास्त्र या शास्त्रों का ज्ञान सार्थक क्यों सोने में सुगन्ध है। शास्त्र भी मनुष्य को लेकर ही बना है, स्याही के अक्षरों को लेकर नहीं और मानव-समालोचक के लिए शास्त्र की सारी पंक्तियाँ विशाल मानवता की व्याख्या के रूप में ही प्रोद्भासित होती हैं, पर यदि समालोचक का दृष्टिकोण ऊपर के दोनों-तीनों तत्त्वों से शून्य है तो शास्त्र-ज्ञान उसके लिए निरर्थक ही नहीं, कभी-कभी अनर्थकारी कलङ्क-स्वरूप है। रही तीसरे दर्जे के पक्षपात की बात, सो यह तो शायद मानव-द्रष्टा समालोचक के विषय में उठती ही नहीं।"

कहना न होगा कि ऊपर की पंक्तियों में सच्चे समालोचक और सच्ची समालोचना की जो परिभाषा प्रस्तुत की गई है वह इतनी परिपुष्ट और परिपूर्ण है कि अपनी ओर से कुछ भी कहना व्यर्थ होगा।

संक्षेप में, हिन्दी समालोचना के इतिहास में शिलीमुखजी अपनी कतिपय मौलिक विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय बने रहेंगे। समसामयिक कलाकारों की कृतियों की निर्भीकतापूर्वक सब से पहले आलोचना प्रस्तुत करना, आलोचना में मौलिकता का पुट तथा शास्त्र-ज्ञान का समन्वय, तत्कालीन साहित्य को नवीन दिशा का संकेत देकर समीक्षात्मक पुस्तकें लिखने की प्रेरणा देना, भावाभिव्यक्ति के लिए हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और भाषाओं को यथोचित और यथेष्ट प्रयोग में लाना, साहित्य, कला, सौन्दर्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए विविध विषयों पर लेख लिखना—ये पांच विशेषताएँ हैं जो हिन्दी समालोचना-साहित्य को शिलीमुखजी की देन के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं।

सितम्बर, १९५२।

: १३ :

सेठ गोविन्ददास का जीवन-दर्शन

साहित्य को जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति का माध्यम मानने वाले कलाकार की कृतियाँ निरुद्देश्य अथवा आत्म-निरपेक्ष कोटि की रचनाएँ नहीं होतीं। जिस विशिष्ट उद्देश्य को सम्मुख रख वह रचना करता है, उसकी स्वीकृति उसकी अपनी मान्यता में निहित होती है, अतः कला को सोद्देश्य स्वीकार करने वाले साहित्यकार का जीवनदर्शन उसकी रचनाओं में ही खोजा जा सकता है। रूस के प्रसिद्ध लेखक चेखव ने लिखा है कि "प्रत्येक कलाजन्य रचना का कोई एक उद्देश्य अवश्य होना चाहिए और उसे समक्ष रखकर ही रचना करनी चाहिए।" सेठ गोविन्ददास जी ने अपनी 'नाट्य-कला मीमांसा' में इसी मत के अनुरूप स्वीकार किया है कि—"प्रत्येक कलाकार को अपने मतानुसार मानव-जीवन और उसके साथ ही अपनी कृति का कोई न कोई उद्देश्य निश्चित तो करना ही पड़ता है।" "फलत. सेठ जी के जीवन-दर्शन का संधान करने के लिए उनकी रचनाओं को प्रकाश-स्तम्भ के रूप में ग्रहण किया जा सकता है और उनके आधार पर हम सेठ जी के जीवन-दर्शन की व्याख्या और विवेचना कर सकते हैं।

सामाजिक कार्यकर्त्ता होने के नाते सेठजी का व्यक्तित्व अनेक स्तरों पर व्यक्त और प्रकट भी है। उनकी जीवन-यात्रा का अधिकांश भाग भारतीय राजनीतिक चेतना से सम्बद्ध होने के कारण सार्वजनिक रूप से जनता के सामने रहा है। आज भी वे सार्वजनिक कार्यकर्ता के रूप में राष्ट्र-सेवा-व्रत लेकर कार्य कर रहे हैं अतः व्यक्तिगत सम्पर्क के बिना भी उनकी गतिविधि को तटस्थ रूप से आंका जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि सेठ जी के व्यक्तित्व का निर्माण विषम परिस्थितियों के आघात-प्रतिघात से हुआ। वैभव-सम्पन्न सम्भ्रान्त मारवाड़ी-कुल में जन्म लेकर सेठ जी ने सामन्तयुगीन ठाट-बाट की माया अपने घर में ही भली भाँति देखी-परखी है। किन्तु विदेशी शासन और पूँजीवादी प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह करने के कारण उन्हें अपने चारों ओर के वातावरण से डट कर जूझना पड़ा है। वैष्णव संस्कारों की वंश-परम्परागत छाप उनकी जन्मजात थाती है, किन्तु इन्हीं वैष्णव संस्कारों के विरुद्ध उन्हें संकीर्ण रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों से जमकर लड़ना पड़ा है। आभिजात्य की गरिमा और स्वाभिमान उनके नैसर्गिक गुण हैं। किन्तु आभिजात्य के मिथ्या दम्भ को ठुकरा कर उन्होंने वर्ण-भेद को चुनौती दी है। इस प्रकार की विषमताओं के कारण उनके व्यक्तित्व में जहाँ एक ओर पुरातन संस्कारों की गहरी छाप है, वहाँ दूसरी ओर युग-चेतना के बौद्धिक प्रभाव के कारण जीर्ण-शीर्ण को छोड़ देने का प्रबल आग्रह भी है। सेठ जी को अपने चारों ओर के सामन्ती वातावरण से जूझने के लिए स्वजन से द्रोह करना पड़ा है। इस प्रकार द्रोह और विद्रोह के विषम वातावरण में सेठ जी ने अपनी जीवन-यात्रा को आगे बढ़ाया है और उस यात्रा के क्षणों में जीवन-दर्शन-सम्बन्धी मान्यताएँ स्थिर की हैं। साहित्य उनकी साधना नहीं—आत्माभिव्यक्ति का साधन बना है। राजनीति और समाज-नीति को परिवर्तित करने में उनकी क्रियाशीलता दृष्टिगत होती है, अतः राजनीतिक क्षेत्र को उनकी कर्मभूमि या साधना समझना चाहिए।

वल्लभ-कुल में दीक्षित होने के कारण सेठ जी दार्शनिक दृष्टि से शुद्धाद्वैत में विश्वास रखते हैं। शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भेद रखने के लिए अद्वैत के साथ शुद्ध विशेषण साभिप्राय है। मायाजनित ब्रह्म की स्वीकृति न करने के कारण वल्लभाचार्य ने माया से अलिप्त, माया-सम्बन्ध से सर्वथा विरहित, नितान्त शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना है। अविकृत ब्रह्म भक्तों पर कृपा करने के कारण परिणामशील होता है। जब भगवान को रमण करने की इच्छा होती है, तब वह अपने आनन्द आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप

ग्रहण करना है। ब्रह्म से जीव का आविर्भाव उसी प्रकार होता है, जैसे अग्नि से स्फुलिंग का। जगत् के सम्बन्ध में भी वल्लभाचार्य के सिद्धान्त शंकराचार्य से भिन्न हैं। वे जगत की उत्पत्ति और विनाश नहीं मानते, प्रत्युत आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं। वल्लभाचार्य का यह शुद्धाद्वैत सिद्धान्त सेठ गोविन्ददास जी को पैतृक धरोहर के रूप में उपलब्ध हुआ। इस सिद्धान्त को आपने व्यापक रूप से व्यावहारिक बनाया और अपने समस्त क्रिया-कलाप का आधार भी। यद्यपि यह सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्त प्रतीत होता है, किन्तु वैष्णव भावना को जानने वालों के लिए यह कोरा साम्प्रदायिक मतवाद नहीं, वरन् जीवन-दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के द्वारा ब्रह्म और जीव का भेद अन्यथा सिद्ध होता है। कीरी से कुंजर तक समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा की भावना सहज ही में उत्पन्न होकर अखिल विश्व के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध का श्रीगणेश करती है। विश्व ही ब्रह्म तत्त्व से उद्भूत है अतः प्रेम, करुणा, सहानुभूति, ममता और अहिंसा के लिए अधिकाधिक अवकाश निकलता है। सेठ जी के मतानुसार इस दार्शनिक सिद्धान्त की आधारभूमि इतनी व्यापक है कि इसे ग्रहण करने के बाद अहिंसा को धर्म (क्रीड) के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

अद्वैतमूलक भावना से कार्य करने पर धर्म, राजनीति, समाज, ज्ञान, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में हम मानवात्मा की रक्षा करते हुए आगे बढ़ सकते हैं। सेठजी ने 'नाट्यकला-मीमांसा' में स्पष्ट लिखा है कि—"संसार में अब तक किये गये समस्त अनुसंधानों में मेरी दृष्टि से देश, काल और पात्र के परे सबसे बड़ा अनुसंधान वेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' महावाक्य में भरा हुआ है। 'सभी ब्रह्म है' इस से बड़े सत्य का अब तक मनुष्य पता नहीं लगा पाया है। समस्त सृष्टि एक ही तत्त्व है, यह वैज्ञानिकों की भी सबसे बड़ी खोज है। इसका अनुभव करना ही मैं मनुष्य का सबसे बड़ा ज्ञान मानता हूँ। जब तक पंचभूतमय शरीर है, तब तक मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इस अनुभव के पश्चात् मनुष्य वैसे ही कर्म करेगा, जो सब के लिये हितकारी हों; क्योंकि समस्त सृष्टि में एकता का अनुभव होने के पश्चात् अपना-पराया का भेदभाव उस के लिए रह ही नहीं जायगा, एवं जिस प्रकार अपनी भलाई में दत्तचित्त रहना मनुष्य का स्वभाव है उसी प्रकार समस्त सृष्टि की भलाई में दत्तचित्त रहना उसका स्वभाव हो जायगा। और आगे बढ़कर यह कर्म जब वह निष्काम होकर करेगा, तब उसके लिए दुःख भी न रहेगा और वह सदा आनन्द का

उपभोग करता रहेगा। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ज्ञान का अनुभव, इस अनुभव के अनुरूप समस्त के उपकार में दत्तचित रहने वाला कर्म और इस कर्म और इस कर्म को निष्काम कर, आनन्द का उपभोग ही मैं मनुष्य जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य मानता हूँ तथा जो ललित कला मनुष्य को अपने सौन्दर्य द्वारा उसके हृदय में भावों और रसों का प्रादुर्भाव कर उसे आनन्द देते हुए इस आदर्श को प्राप्त करने में सहायता पहुँचाती है, उसी को सर्वश्रेष्ठ ललित कला।"

अद्वैत-भावना को संसार की कल्याण-भावना का प्रतीक मानने वाले विचारकों की आज पौर्वात्य तथा पाश्चात्य देशों में कमी नहीं है। इस सिद्धान्त का उन्मेष भारत में हुआ, किन्तु तात्विक दृष्टि से इसे देश-विदेश के अनेक महापुरुषों ने स्वीकार कर इस पर सर्वभूतहित की छाप लगाई। सेठजी इसी को अपने धर्म, दर्शन, राजनीति और समाज-नीति का मेरुदंड बना कर चले हैं, अतः इसका स्थान-स्थान पर विविध प्रकार से उल्लेख करना उनके लिए स्वाभाविक है। अद्वैत-सिद्धान्त के द्वारा अहिंसा का प्रचार इसलिए और अधिक बोधगम्य हो जाता है कि यह अद्वैत सर्वात्मवाद की स्थापना और सर्वभूतहित कामना का ही दार्शनिक रूप है।

सेठजी का अहिंसा के प्रति आग्रह केवल राजनीतिक प्रेरणा या महात्मा गाँधी के अनुसरण के कारण नहीं हुआ, अपितु उन्हें अहिंसा की व्याख्या में शुद्धाद्वैत की भावना दृष्टिगत हुई, तभी वे इसे धार्मिक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर सके। उनका विश्वास है कि महात्मा गाँधी की अहिंसा राजनीतिक चाल या पॉलिसी नहीं है, वरन् वह सच्चा धर्म (क्रीड) है, जिसे अपना लेने के बाद मानव के मन में न तो दूसरे के प्रति द्वेष रहता है और न निर्दयता आदि क्रूर भावों का उसके हृदय में संचार होता है। सेठजी ने अहिंसा के इस सिद्धान्त को अपने प्रकाश, कर्त्तव्य, हर्ष, विकास और विश्वप्रेम नाटकों में अनेक बार दुहराया है।

अपने प्रतीक नाटक 'विकास' में सेठजी ने आकाश और पृथ्वी का संवाद अंकित करते हुए यह व्यक्त करने की चेष्टा की है कि मानवात्मा का वास्तव कल्याण स्वयुग में नहीं—परयुग, अर्थात् उत्सर्ग और बलिदान में है उत्सर्ग को जीवन की चरम सार्थकता मानने का तात्पर्य है अहिंसक होकर आक्रामक के समस्त समष्टि-कल्याण के लिए सब कुछ बलि कर देना। यह आत्मोत्सर्ग ही अहिंसा का पोषक भाव है। सेठजी इसी के समर्थक और प्रतिपादक हैं। उनका विश्वास है कि राजनीति के क्षेत्र में कार्य करते हुए भी धार्मिक भावनाओं को

अक्षुण्ण रखा जा सकता है, और प्रत्येक जागरूक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है कि वह धर्म की सुदृढ़ भित्ति पर स्थित होकर राजनीतिक आन्दोलनों का नेतृत्व या अनुगमन करे। धर्म की प्रतिष्ठा के बिना राजनीति की बड़ी से बड़ी सफलता क्षणस्थायी होकर अपनी सफलता को व्यक्त कर देगी। मानव और मानव-समाज की प्रेरक वे तीन चीज़ें मानते हैं—धर्म, नीति और प्रेम। यदि इन तीनों में से किसी एक का अवांछनीय अतिरेक दलदल में फँसाने वाला बने, तो उसे त्याग देना ही श्रेयस्कर होगा। वर्तमान युग में इन तीनों चीज़ों का जैसा विपर्यय हमें दिखाई दे रहा है, वह अधिकांश में ग्राह्य नहीं हो सकता। सेठजी के अनुसार "जिस धर्म, जिस प्रेम और जिस प्रेय से बिना किसी को हानि पहुँचाये, या बिना किसी पर आधिपत्य की अभिलाषा के स्वयं को व्यक्तिगत सुख मिलता है, वही ग्राह्य है। बिना व्यष्टि और समष्टि के भेद का नाश और इस नाश तथा एकता का अनुभव हुए यह हो नहीं सकता।"

सेठजी तीन पौराणिक प्रख्यात महापुरुषों को अपना जीवनादर्श मानते हैं। हरिश्चन्द्र उनके लिए सत्य का आदर्श हैं, दधीचि त्याग या बलिदान का और शिवि अहिंसा का। इन तीनों महापुरुषों की साधना भारतीय संस्कृति का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करने में समर्थ है। महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा के मूल में इन्हीं तीनों महापुरुषों के अनुकरण का बल है।

'आलोक और भिखारिणी' शीर्षक एकांकी नाटक में हिंसा और बलिदान का अन्तर स्पष्ट करते हुए आलोक की उक्ति ध्यान देने योग्य है। इस युग के आन्दोलनों में जब हम अहिंसा और बलिदान पर विचार करने लगते हैं, तब इसी मार्मिक उक्ति से इन दोनों का रहस्य भली भाँति अवगत होता है। भिखारिणी को अपना मांस देने के लिए उद्यत आलोक के प्रति आत्म-हिंसा का दोषारोपण किये जाने पर वह कहता है—"मैं तो नहीं समझता, गुरुदेव, कि यह हिंसा होगी। यह हिंसा बलिदान है। हिंसा और बलिदान में अन्तर है—महान् अन्तर है। आर्य, बलात् किसी का वध हिंसा है; अपना वध यदि क्रोध, दुःख, ग्लानि के आवेश में आकर किया जाय, तो भी वह हिंसा ही है। किन्तु सत्य-सिद्धान्त की रक्षा के लिए अपना शरीर अर्पण होता हो तो वहाँ—वहाँ तो गुरुदेव! वह हिंसा नहीं हो सकती। वह बलिदान, सच्चा बलिदान हो होगा।" बलिदान की इस यथार्थता को समझ लेने के बाद गांधी जी के अहिंसा और हिंसा-विषयक विचारों की भली भाँति व्याख्या की जा सकती है। सेठजी गांधीवाद को भारतीय संस्कृति का ही एक रूप स्वीकार करते हैं, अतः उनकी व्याख्या भी उन्होंने अपनी शैली से प्रस्तुत की है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि सेठ जी के जीवन-दर्शन का आधारभूत तत्व अद्वैत या अभेद-बुद्धि है। इसी अभेद तत्व को ऐकान्तिक सत्य (एब्सोल्यूट ट्रूथ) मानकर अन्य तत्त्वों का उद्भव या विकास इसी से मानना चाहिए। अभेद से अहिंसा, अहिंसा से प्रेम, प्रेम से सेवा, सेवा से त्याग और त्याग से बलिदान। यह क्रम मानवात्मा के विकास की स्वाभाविक सरणि है और यही भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। इस में व्यतिक्रम होने से स्वार्थ-बुद्धि या संकीर्णता को स्थान मिलता है। स्वार्थ-बुद्धि या संकीर्णता मानवात्मा के विकास के मार्ग को अवरुद्ध करके उसे वर्ग या जाति के तुच्छ भेदों में विभक्त कर देती है। सेठजी ने अपने विशाल उपन्यास 'इन्दुमती' में इस प्रश्न का बहुत ही अच्छा समाधान किया है। इन्दुमती (उपन्यास की नायिका) अपने व्यक्तित्व को सब कुछ मानकर अहंकार के दुर्ग में घिरी रहती है। उसका दम्भ और अहंकारसमाज की अवहेलना करके निज के व्यक्तित्व को प्रकृष्ट बनाने में लीन रहता है, जिसकापरिणाम होता है दुख, दैन्य, नैराश्य और कुण्ठा। इसके विपरीत इस उपन्यास का एक दूसरा पात्र डाक्टर त्रिलोकीनाथ अभेद-तत्व में विश्वास करके समस्त पदार्थ-जात में ईश्वरीय दिव्य सत्ता का आभास पाकर सब को एक समझता है। यह एकत्व उसके अभेद-ज्ञान से प्रसूत है, अतः उसके लिए दुख, दैन्य, नैराश्य और कुण्ठा का अवकाश नहीं रहता। वह इन्दुमती से कहता है—"जिस व्यक्ति को इस अभेद का अनुभव होने लगे, वह व्यक्ति तो अन्यों को मनगा मान, समाज की हर बात की अवहेलना करने का कष्ट उठा, हर वस्तु को ठोकर मार कर सारे आचरण तो न करेगा न? उसके लिए जब अपने और विश्व के बीच कोई भेद न रह जायगा, तब वह तो भिन्न-भिन्न दिखने वाली चीजों से उसी प्रकार का बर्ताव करेगा न, जैसा वह अपने आप से करता है! और ज्ञान के बाद अज्ञानी क्या करते हैं, उस ओर भी उसकी दृष्टि न जायगी। अतः संसार की समस्त वस्तुएँ आप से आप उसके सुख का साधन हो जायेंगी। अपने को सब में और सब को अपने में अनुभव करने के पश्चात् अहंमन्यता रह ही नहीं जाती, जो सारे दुखों की जड़ है।"

कर्तव्य नाटक में राधा को समझाते हुए कृष्ण की उक्ति का रहस्य अभेद-तत्व में ही अन्तर्निहित है। समस्त प्राणिमात्र में अभेद-बुद्धि रखने से आत्म-सुख के साथ समष्टि-सुख का ज्ञान अनायास प्राप्त होता है। कृष्ण ने राधा को ईश्वरीय कृपा की शिक्षा न देकर मानवीय स्तर पर अभेद तत्व का ज्ञान कराया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से सेठ जी का जीवन-दर्शन शुद्ध भारतीय विचारधारा पर निर्भर करता है। विश्व में छह प्राचीन देश हैं, जिनकी सांस्कृतिक थाती सभी स्वीकार करते हैं। उनमें से यूनान, मिस्र, वबिलोन तो नितान्त परिवर्तित हो गए हैं। चीन मे भी नवीन क्रान्ति का रूप देखा जा सकता है। भारतवर्ष की परम्परा आज भी जीवित है। भारतवर्ष के सामाजिक ढाँचे में भी पुरातन संस्कार की छाप है और व्यक्ति के निर्माण में भी प्राचीन परम्परा का योग रहता है। भारत की संस्कृति का आधार धर्म है। धर्म का मूल अध्यात्म है। अध्यात्म का आधार आस्तिक भाव या ईश्वर-विश्वास में है। ईश्वर पर आस्था रखने वाले को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की प्रतीति अद्वैत-भावना से होती है और इस प्रकार अभेद-बुद्धि का सहज ही में सूत्रपात हो जाता है। अभेद-ज्ञान ही अहिंसा और प्रेम का उन्नायक है। अहिंसा और प्रेम—इन दो प्रधान शाखाओं से ही वैष्णव-धर्म की उत्पत्ति होती है और ये ही गांधीवाद की प्रवर्त्तक हैं। सेठ जी का गांधीवाद के प्रति आकर्षण का यही कारण है कि वह मूलः भारतीय संस्कृति का ही नूतन रूप है, कोई नवीन वाद या मत नहीं। उनका विश्वास है कि सत्य का मार्ग एक और केवल एक है। उसे चाहे गांधीवाद कहें या भारतीय दर्शन का अद्वैत मार्ग। 'सेवापथ' नाटक में सरला की इस उक्ति में यह तथ्य बड़ी सुन्दर शैली से व्यक्त हुआ है—"सच तो यह है कि संसार में महान् पथ एक ही है, वह सीधा और सरल है। परन्तु यह माया का खेल है कि एक सीधे और सरल पथ की अपेक्षा लोगों को टेढ़ी-मेढ़ी गलियाँ ही अधिक आकर्षक जान पड़ती हैं।

भारतीय संस्कृति का मूलाधार अध्यात्मवाद है। ईश्वर की अखंड सत्ता पर ही भारतीय संस्कृति निर्भर करती है। किन्तु जिन्हें हम नास्तिक दर्शन कहते हैं, अर्थात् बौद्ध और जैन-दर्शन भी भारतीय संस्कृति के ही उद्घोषक हैं। सेठ जी ने अपने साहित्य में इन दोनों विशाल भारतीय धर्मों के तत्वों को स्वीकार किया है और उन्हें भारतीय संस्कृति का अमिट अंग माना है। कुछ नाटकों में बौद्ध संस्कृति को ही भारतीय मनीषा का एक उत्कृष्ट रूप मानकर अंकित किया है।

भारतीय संस्कृति की आचार-मर्यादा के पुरातन मेरुदण्ड वर्णाश्रम-धर्म के सम्बन्ध में सेठ जी के विचार नवीन युग से प्रभावित हैं। वे वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म-मूलक नहीं मानते। यदि केवल जन्म से ही ब्राह्मण और शूद्र का निर्णय किया जाय तो अस्पृश्यता और ऊँच-नीच का भेद भी मानना

होगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार साफ़ तौर से जाहिर करने के लिए अपने घर के निजी मन्दिर की ट्रस्टीशिप से भी त्याग-पत्र दे दिया था। वैष्णव मन्दिर में अस्पृश्यों को प्रवेश का अधिकार न था, सेठ जी ने इस भेद को दूर कराने का प्रयत्न किया और अन्त में स्वयं उस मन्दिर से ही अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। शूद्र और ब्राह्मण का भेद, अभेद-बुद्धि को चुनौती देने वाला संकीर्ण पथ है, जिसे सेठ जी ने स्वीकार नहीं किया। आश्रम-व्यवस्था को वे समाज के लिए उपयोगी मानते हैं, किन्तु अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं। वर्तमान युग में सामाजिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन होने के कारण वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम की पूरी व्यवस्था सम्भव नहीं है। फिर भी वानप्रस्थ आश्रम की उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध है, और साठ वर्ष से ऊपर की आयु वाले गृहस्थजन इसका लाभ उठा सकते हैं। इस पुरातन वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूढ़िग्रस्त ढोंग को सेठ जी ने स्वीकार नहीं किया। वे सदा मानवात्मा को एक मानकर उसके समष्टिगत अभ्युत्थान पर बल देते रहे हैं। व्यक्ति को जन्मजात अधिकार देकर पूज्य बनाना उनकी मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल है। 'चन्द्रापीड़ और धर्मकार' नाटक में चन्द्रापीड़ की उक्ति में वर्ण-व्यवस्था का असली रूप प्रकट हुआ है। चन्द्रापीड़ कहता है—"नहीं गुरुदेव, सच्चे धर्म में मेरा अखंड विश्वास है, जिस पाखण्ड ने धर्म का रूप ग्रहण कर लिया है, उसे मैं अवश्य ध्वंस करना चाहता हूँ। सवर्णों और अस्पृश्यों के इस भेद-भाव पूर्ण धर्म में मानव-धर्म का तो स्थान ही नहीं दीखता, इसलिए मैं इसे धर्म नहीं, पाखंड मानता हूँ।"

उपर्युक्त उदाहरण का आधार कदाचित् यह प्रतीत हो कि सेठ जी का पक्ष समाज-सुधार है, किन्तु यह समझना सेठ जी के मूल जीवन-दर्शन को समझने में भूल करना होगा। सेठ जी सांस्कृतिक पक्ष का उद्धार आवश्यक मानते हैं, केवल बाह्य सामाजिक सुधारों के प्रति उनका कोई विशेष आग्रह नहीं है। अतीत से वर्तमान की ओर आने पर जितना हम साथ ला सकते हैं, हमें लाना चाहिए। केवल वही त्याज्य होगा, जो भार बनकर आगे बढ़ने में बाधा उत्पन्न करता है। अतीत का अन्धानुगमन उन्होंने कहीं नहीं किया और न वर्तमान की चकाचौंध को ही सब कुछ माना है।

श्रीमद्भागवत और गीता को आपने वैष्णव के नाते ही नहीं वरन् भारतीय जीवन का निर्माण करने वाले भक्ति तथा कर्मयोग के ग्रन्थ मानकर स्वीकार किया है। भागवत् पुराण का आपके साहित्य पर विशेष प्रभाव नहीं

पड़ा। हाँ, गीता की छाप अनेक रूपों से दृष्टिगत होती है। 'सेवापथ' नाटक में सरला वही कहती है, जो गीता का उपदेश है—"ज्ञान का सच्चा उपार्जन और कर्म का ठीक दिशा में अनुष्ठान ही मनुष्य को देवता बना देता है। क्योंकि ज्ञान का लक्ष्य सत्य और कर्म का ध्येय नीति है। दोनों का अन्तिम परिणाम परमार्थ की प्राप्ति है, जो सेवा से होती है।" कार्य फल से वियुक्त रह कर निष्काम कर्म की बात तो सेठ जी के अनेक नाटकों में स्थान-स्थान पर प्रकट हुई है। 'सेवापथ' नाटक में शक्तिपाल कहता है—"ईमानदारी से किया हुआ काम, क़ामयाबी न होने पर भी दुनियाँ में फ़िजूल नहीं जाता। इसका मुझे यक़ीन है। क्योंकि ईमानदारी से किया हुआ कार्य असफल होने पर भी श्रेष्ठ होता है।" महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलनों की असफलता उस सफलता से कहीं बढ़कर है, जो अनीतिपूर्ण मार्गों से प्राप्त होती है। कर्तव्य नाटक में भी सेठ जी ने कर्म-फल में आसक्ति-रहित होकर काम करने का उपदेश दिया है। यह गीता के कर्मयोग का ही प्रभाव है। गीता के सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष है सक्रिय होकर कर्म करना। केवल विचार करने से सिद्धि नहीं होती। यह ऐसा सिद्धान्त है, जो प्रायः लेखक और उपदेशकों की दृष्टि से ओझल हो जाता है। केवल विचार मात्र प्रस्तुत कर देने से न तो कार्यसिद्धि होती है और न उस विचार को स्थिरता ही मिलती है। विचार को कार्य-रूप में परिणत करने पर ही स्थिरता दी जा सकती है। विचार और कर्म दोनों में ऐक्य-सम्बन्ध रहे, तो जीवन-यात्रा में सफलता प्राप्ति सम्भव है। पहले सिद्धान्त में अटूट विश्वास हो, तब किसी मार्ग पर क़दम रखने से क़ामयाबी मिलती है। 'सेवापथ' नाटक में दीनानाथ का अपनी पत्नी से वार्तालाप इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है—"देखो, स्वार्थ का मूलोच्छेदन केवल विषय-भोगों के त्याग से नहीं होता। बिना विषय-भोग के त्याग के तो स्वार्थ-त्याग के पथ पर पैर रखना भी असम्भव है। × × × विषय-भोग के त्याग और अपने सिद्धान्त की अटलता में विश्वास होने पर अपने पथ पर चलने की आत्मशक्ति अवश्य प्राप्त हो जाती है; परन्तु उसे स्वार्थ के आक्रमणों से बचाने के लिए फिर भी प्रयत्न करने की आवश्यकता है।"

सांसारिक धन-सम्पत्ति और वैभव-विलास के विषय में सेठ जी के विचार, जो कि उन्होंने अपने साहित्य में व्यक्त किए हैं—बड़े महत्वपूर्ण हैं। सेठ जी का जन्म श्री-सम्पन्न परिवार में हुआ। प्रचुर सम्पत्ति को त्याग कर आपने राष्ट्रसेवा का कंटकाकीर्ण मार्ग चुनकर उस पैतृक सम्पत्ति को प्रायः छोड़ दिया, जो इन्हें

परम्परा से सहज रूप में उपलब्ध थी। ऐसी स्थिति में धन और धनी समाज के प्रति आपका दृष्टिकोण अवश्य विलक्षण बन गया होगा। धन संचय करके बैंक बैलेंस बढ़ाने की प्रवृत्ति और धन के द्वारा पूँजीवादी मनोवृत्ति से रहने का आपने स्थान-स्थान पर विरोध किया है। उनका विश्वास है कि आय के अनुसार व्यय होने पर घर में शान्ति और संतोष का वातावरण रहता है। धन का सदुपयोग आवश्यकता-पूर्ति है – संचय नहीं। संचय की प्रवृत्ति आते ही इसका भयंकर दुरुपयोग परपीड़न या शोषण के रूप में होने लगता है। सेवापथ नाटक में सरला कहती है—"जब किसी घर की आय आवश्यकता की पूर्ति के अनुसार ही रहती है, तब सब लोग सच्चरित्र रहकर सन्तोष के साथ उसे बाँटकर खाते हैं, पर जब आवश्यकता से अधिक संचय होता है, तब उस संचय से न जाने कितने पापों की उत्पत्ति होती है। × × × धन बढ़ने और घटने दोनों में दुःख ही दुःख है। जिसके घर में धन बढ़ता है उसकी तृष्णा बढ़ जाती है, संतोष उसे कभी होता ही नहीं और धीरे-धीरे उसकी आत्मा पर इस बढ़ते हुए धन का इतना बोझ बढ़ जाता है कि उसके कारण ही वह तिलमिला उठता है; इस धन के उपार्जन में दुःख, इसकी रक्षा में दुःख, इसके नाश में दुःख, मुझे तो धन और दुःख दोनों पर्यायवाची जान पड़ते हैं।" इन पंक्तियों में जैसे सेठ जी ने आत्मानुभव को ही व्यक्त किया हो। यही कारण है कि सेठ जी के जीवन में धनी व्यक्तियों की गरिमा और उदारता होने पर भी विलासिता और अकर्मण्यता नहीं है। सेठ जी के मन में धन के प्रति मोह-ममत्व है या नहीं, यह तो कहना मेरे लिए कठिन है किन्तु उनके साहित्य में धन की विगर्हणा है; उनके जीवन में भी धन की स्पृहा और आकांक्षा शायद नहीं है।

सेठ जी का शैशव वैभव के वातावरण में व्यतीत हुआ। उन्होंने महलों का सुख भोगा। किन्तु झोंपड़ी का अट्टहास उनके कानों तक पहुँचता रहा। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना जीवन ही परिवर्तित कर डाला। नागरिक जीवन के वैभव के समक्ष सेठ जी सदा ग्राम के जीवन की सराहना करते हैं। प्रकाश नाटक में प्रकाशचन्द्र की यह उक्ति मननीय है—"ग्रामीण जीवन स्वाभाविक और नगर का जीवन अस्वाभाविक है। छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरे हुए वे गाँव, ऊँचे ऊँचे वृक्षों की छाया में बने हुए नन्हें-नन्हें झोंपड़े, शान्त नीरव और सकरी-सकरी वीथियाँ, खिले हुए कमलों से भरे हुए निर्मल सरोवर, कलकल करते हुए नाले, आम के सुन्दर बगीचे, हरे-भरे खेत, घुटनों तक चढ़ी हुई धोती और मिरजई पहिने हुए किसान, मोटी-मोटी लाल साड़ियाँ पहने हुए

मजदूर स्त्रियाँ, नंगे पैर और धूल में खेलते हुए बालक, गाय-बैल और उनके गले से बँधी हुई टन-टन बजने वाली घंटियाँ सब स्वाभाविक वस्तुएँ हैं।" इसी प्रकार और भी अनेक स्थलों पर सेठ जी ने ग्रामीण जनता का, मजदूरों का, खेत और खलिहान पर काम करने वाले किसानों का चित्र अंकित किया है।

सेठ जी ने अपना व्यावहारिक जीवन-दर्शन गाँधीवाद ही माना है। गाँधीवाद के समर्थन में आपने लगभग एक दर्जन नाटक लिखे हैं। वर्तमान युग के पंचशील और भूदान को भी आप मानव के कल्याण का मंत्र मानते हैं। विकास, प्रकाश, कर्त्तव्य, सुख किसमें, दुःख क्यों, आदि नाटकों में इन मान्यताओं की स्थापना की गई है। गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित होने पर भी आपने अपने जन्मजात वैष्णव संस्कारों में परिवर्तन करना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि आप यह मानते हैं कि सच्चा वैष्णव सत्य, अहिंसा और प्रेम पर ही निर्भर होकर चलता है। गाँधी जी भी यही कहा करते थे। आपकी निश्चित धारणा और अटूट विश्वास है कि गाँधीवाद पूर्ण रूप से सफल हुआ है और ज्यों-ज्यों संसार की युद्धशील जातियाँ हिंसा से प्रतिहिंसा की ओर अग्रसर होती जायेंगी, त्यों-त्यों गाँधीवाद की आवश्यकता और अधिक बढ़ती जायगी। कुछ लोगों को गाँधी जी के प्रारम्भिक आन्दोलनों की असफलता पर घोर निराशा हुई थी और आज भी कुछ लोग यह कहते हैं कि गाँधीवाद निःशेष हो चुका है। किन्तु सेठ जी इस मत से घोर विरोध व्यक्त करते हुए अपने विकास नाटक में कहते हैं—

"गाँधी जी के कार्यों का क्या फल निकला, इसका निर्णय आज नहीं हो सकता। भविष्य इसका निर्णय करेगा। हम लोग भूत और वर्तमान का ही ज्ञान रखते हैं, उस ज्ञान से भविष्य में क्या होगा, इसकी कल्पना कर सकते हैं। भविष्य का सच्चा और पूर्ण ज्ञान तो उसी शक्ति के पास है, जिसके द्वारा समस्त सृष्टि, असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्र संचालित होते हैं। कोई इस महाशक्ति को ईश्वर कहते हैं, कोई चैतन्य मानते हैं और कोई जड़। आज तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सृष्टि को पुनः उत्थान की ओर अग्रसर करने के लिए महात्मा गाँधी का जन्म और उनके कार्य का आरम्भ हो गया है; भूत में जो कुछ हुआ है और वर्तमान में जो कुछ हो रहा है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि सामूहिक रूप से सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर अग्रसर है।"

साहित्यिक कृतियों के अन्तराल में सन्निविष्ट तथा उपर्युक्त मन्तव्यों की छानबीन करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि साहित्य-सृजन के सम्बन्ध में सेठ जी का दृष्टिकोण क्या है। सेठ जी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को अपने सृजन की मूल प्रेरणा मानते हैं। उनका कहना है कि 'सच्चिदानन्द' को ही साहित्य में प्रतिफलित करने का मेरा प्रयत्न रहता है। उनकी धारणा है कि साहित्य में शिवत्व पक्ष का समावेश अनिवार्य होना चाहिए। जो साहित्य केवल सत्य का उद्घाटन करके समाप्त हो जाता है या सौन्दर्य की सृष्टि करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है, वह अपने उद्देश्य में अपूर्ण साहित्य है। शिवत्व साहित्य की पहली शर्त है। सौन्दर्य का समर्थक साहित्य कभी-कभी व्यष्टि का ही साहित्य होकर रह जाता है। सत्य का प्रतिपादन करने वाला भी कभी-कभी अपनी सीमाओं के कारण सर्वजनप्रिय नहीं बनता अतः शिवत्व को पहली शर्त मानने वाले लोक-संग्रह या लोक-कल्याण को समष्टिगत बनाने में प्रयत्नशील रहते हैं। 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त को उन्होंने कभी प्रथम स्थान नहीं दिया। शिवत्व की शर्त को कहाँ तक स्वीकार किया जाय, इसका कोई विवेचन उनके साहित्य में नहीं मिलता। 'कला कल्याण के लिए' ही आपका मन्तव्य है। अपने साहित्य के द्वारा मस्तिष्क को समृद्ध बनाने की ओर भी आपका रुझान नहीं है। आपके साहित्य में हृदय की संवेदनाओं को ही प्राथमिकता मिली है। प्रकाश नाटक में एक जगह प्रकाशचन्द्र कहता है कि—"मेरी शिक्षा मस्तिष्क की नहीं; हृदय की शिक्षा है। और चाहे मुझे संसार द्वारा स्वीकृत वैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान न हो, तथापि मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि संसार में मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय का स्थान सदैव ऊँचा रहा है। मस्तिष्क ने यद्यपि ज्ञान दिया है, तथापि बलिदान का कार्य सदा हृदय ने किया है।" हृदय-पक्ष का यह प्रबल समर्थन साहित्य के लिए ही नहीं—सार्वजनिक कार्यकर्ता के लिए प्रतिदिन के जीवन में वैसे भी आवश्यक है। हृदय के आवेग-संवेगों में जितनी शक्ति देखी जाती है, उतनी ज्ञान-विज्ञान की दिशा में नहीं। सेठ जी का साहित्य उनकी अपनी मान्यताओं का पोषक और समर्थक है, अतः उसमें हार्दिकता का पक्ष प्रधान होना स्वाभाविक ही है।

संक्षेप में, सेठ जी का जीवन-दर्शन भारतीय दार्शनिक विचार-परम्परा पर आधृत सर्वसमन्वय सर्वोदय-दर्शन है। 'सर्वभूतहिते रतः' 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त को मानने वाले भारतीय ऋषियों की वाणी से जो समवेदना और समता की भावना व्यक्त हुई, उसी को सेठ जी ने इस

युग में गांधीवाद के माध्यम से स्वीकार किया और अपने साहित्य तथा जीवन का आदर्श बनाया। गांधीवादी विचारधारा के पोषक साहित्यकारों में सेठ जी का नाम अन्यतम है और हमारा विश्वास है कि आगे आने वाली पीढ़ी जब इस युग की विचारधारा का अध्ययन साहित्य के माध्यम से करेगी, तो जिस प्रकार उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द जी का नाम आयेगा, वैसे ही सेठ गोविन्ददास जी युग-चेतना के सफल नाटककार स्वीकार किये जायेंगे।

अगस्त, १९५६।

: १४ :

यशपाल का यथार्थवादी दृष्टिकोण

हेनरी जेम्स ने उपन्यासों का वर्गीकरण करते हुए जिसे 'जीवन-उपन्यास' कहा है, यशपाल के उपन्यास उसी कोटि में स्थान पाते हैं। यथार्थ जीवन की सुदृढ़ भित्ति पर स्थिर होकर गतिमान, प्रवाहयुक्त मानव-जीवन से कथानक के उपकरण संचय करना और उन्हें रूप-आकार प्रदान करना 'जीवन उपन्यास' का शिल्प है। विदग्ध कल्पना द्वारा उन तथ्यों को मार्मिक बनाने का निषेध इस यथार्थ दृष्टि में नहीं होता, यदि ऐसा होता तो यथार्थ का निर्जीव कंकाल उन मार्मिक छवियों से शून्य होकर भयावह और बीभत्स मात्र रह जाता। यशपाल ने अपने कथा-साहित्य में जिस यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया है उसका मूलाधार क्या है और उसको उपन्यास का रूप देने में उन्हें कहाँ तक सफलता मिली है, इस प्रश्न पर हमें विचार करना है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में यथार्थवादी अभिव्यक्ति का प्रारम्भ प्रेमचन्द की रचनाओं से ही देखा जा सकता है। प्रेमचन्द ने अपने 'गबन' और 'गोदान' में ऐसे पात्रों की सृष्टि की, जो जीवन के यथार्थ को ग्रहण कर उसके द्वारा समाज की परम्परागत मान्यताओं को—अन्धविश्वासमयी रूढ़ियों को—चुनौती

देने में अग्रसर हुए थे। प्रेमचन्द का यह प्रयोग उनकी संस्कारनिष्ठ आदर्श भावना से पृथक् सर्वथा नूतन मार्ग का ग्रहण न था। उनके यथार्थ गुण का पर्यवसान सदैव एक ऐसे स्थल पर हुआ है जो वैषम्य का उद्घाटन करता हुआ भी नैतिक मूल्यों की अवहेलना नहीं करता। साथ ही परम्परागत आदर्शों के आभ्यन्तर-मूल्यों को भी छोड़ने की प्रेरणा नहीं देता। हाँ, आदर्शों के नाम पर जो रूढ़िगत अन्ध मान्यतायें समाज के बाहर-भीतर घर कर गई हैं, उन्हें छोड़ने का आग्रह उनमें अवश्य वर्तमान रहता है। यशपाल का यथार्थ दृष्टिकोण इस प्रकार का नहीं है। उनके यथार्थ-चित्रण के दो पक्ष हैं; एक पक्ष तो साम्यवादी विचारधारा के माध्यम से पुष्ट होकर समाज के उन गुह्य स्तरों में प्रवेश करता है जहाँ आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक वैषम्य के कारण वेदना, पीड़ा, कष्ट और शोषण का व्यापार प्रबल हो गया है। यथार्थ चित्रण का दूसरा पक्ष प्रकृतवाद का सम्मिश्रण कर घटनाओं को अतिरंजित करके इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उनके द्वारा समाज की घृणित कृत्यों का—छल-कपट, मक्कारी, बदमाशी, धूर्तता जालसाजी का—पर्दाफाश हो सके। इन वर्णनों को प्रस्तुत करते समय लेखक के अन्तर्मन में जिस प्रबल आक्रोश और प्रतिशोध का भाव रहता है वैसा प्रेमचन्द के मन में नहीं रहता। यशपाल ने इन वर्णनों में व्यंग को प्रहार और संहार का माध्यम बनाया है। समाज के नानाविध स्वार्थ-संकुल एवं राग-द्वेष-अंकित विषाक्त वातावरण को चित्रित करने की कला उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्राण है। अपने यथार्थ चित्रण में यशपाल के अन्तर्मन में किसी विशिष्ट नैतिक सिद्धान्त का आग्रह न होकर सामाजिक सुधार का सामान्य भाव रहता है। बौद्धिक दृष्टि से भी उनके यथार्थवादी वर्णन तथा तज्जन्य निष्कर्ष अग्राह्य नहीं लगते। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"यशपाल जी का अनुभव-क्षेत्र बड़ा है और वे विशाल और निर्बाध जीवन-परिस्थितियों का चित्रण करने की क्षमता रखते हैं।" आगे चलकर वाजपेयीजी ने यशपालजी के साम्यवादी दृष्टिकोण के विषय में कुछ आलोचना भी की है। यह ठीक है कि किसी एक सिद्धान्त या मतवाद का आग्रह सार्वभौम साहित्य-सर्जन का प्रेरक नहीं होता, किन्तु प्रत्येक लेखक का अपना विशिष्ट जीवन-दर्शन और दृष्टिकोण होता है। उसकी सर्वथा उपेक्षा करके वह साहित्य-सर्जन नहीं कर सकता। यदि करता है तो उसकी ईमानदारी में सदेह पैदा होना स्वाभाविक है। यशपाल के साहित्य पर साम्यवादी विचारधारा का व्यापक प्रभाव है किन्तु उन्होंने जिन समस्याओं को उठाया है वे इतनी प्राणवान हैं कि उनका

चित्रण ही लेखक को सफल कलाकार की कोटि में रख देता है। यशपाल की रचनाओं में दादा कामरेड, देशद्रोही, और दिव्या के वर्णनों को हम उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। यशपाल का यथार्थ जनता की अनुभूतियों, वेदनाओं और पीड़ाओं का सत्य है। यह एक ऐसा सत्य है जिसकी मार्मिक अनुभूति जन-जीवन के साथ अभेद्य रूप से संयुक्त हो गई है। पन्त जी ने लिखा है—'सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण सम्बन्धित'। अतः यशपाल के यथार्थ को हम केवल मार्क्सवादी विचारधारा तक ही सीमित नहीं कर सकते, वह अपने चित्रण में जनता का सत्य बनकर हमारे सामने आता है अतः ग्राह्य एवं उपादेय है।

यशपाल की सफल यथार्थवादी रचना 'मनुष्य के रूप' में जिन सजीव पात्रों की अवतारणा हुई है वह इस बात का प्रमाण है कि यथार्थ का रूप भी समाज की चेतना के लिए स्वीकार्य हो सकता है। अभिप्राय और प्रयोजन के समवेत प्रभाव को लेकर लेखक ने इस रचना में जो तथ्य अंकित किये हैं वे किसी भी यथार्थवादी या प्रकृतवादी हिन्दी लेखक से सर्वथा भिन्न एवं ठोस धरातल पर स्थित हैं। केवल कला-शिल्प में नहीं अपने प्रतिपाद्य में भी उनका महत्त्व हमें स्वीकार करना पड़ता है। सामाजिक वैषम्य की भित्ति पर समस्या-मूलक उपन्यासों एवं गल्पों का हिन्दी में अभाव नहीं है किन्तु उनके ठोस धरातल तथा अवमूल्यन की जैसी दृढ़ता यशपाल में है निश्चय ही हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास-लेखक या गल्प-लेखक में नहीं है।

हिन्दी के कुछ आलोचक यशपाल के उपन्यासों पर यह दोषारोपण करते हैं कि उनका कथावस्तु-गठन केन्द्रीय प्रभाव से हटकर अनगल घटनाओं और परिस्थितियों को अनावश्यक तूल देने से नष्ट हो जाता है। मेरा इस सम्बन्ध में स्पष्ट मतभेद है। जहाँ तक यशपाल के उपन्यासों की मूर्तता और सार्थकता का प्रश्न है किसी भी सहृदय एवं निष्पक्ष पाठक को यह मानने में आपत्ति नहीं होगी कि यशपाल के मूर्त चित्र इतने हृदयस्पर्शी एवं प्राणवान होते हैं कि उपन्यास समाप्त करने के बाद भी रह-रहकर उनकी तस्वीरें अन्तर्मन पर उभरती रहती हैं। 'दिव्या' में चार्वाक मारिश का चरित्र जिस रूप में अंकित किया गया है वह पाठक के साथ—चाहे वह उसके सिद्धान्तों से कोई भी कड़ा विरोध क्यों न रखता हो—चिपट जाता है और अपनी मूर्तता को स्पष्ट करता रहता है।

यशपाल का जीवन-दर्शन उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण में स्पष्ट रूप से प्रतिफलित होता हुआ दृष्टिगत होता है। यशपाल मानव-समाज के नैतिक आदर्शों का विरोध नहीं करते, वे विरोध करते हैं उन आदर्शों का जो समाज के नूतन निर्माण में बाधा उपस्थित कर उसे किसी ऐसे पुरातनता के मोहपाश में जकड़ रखना चाहते हैं जो युग-चेतना के प्रतिकूल है। मैं समझता हूँ कोई भी समझदार व्यक्ति उनके इस दृष्टिकोण से मतभेद रखने वाला नहीं होगा। हाँ, यथार्थवादी चित्रण से जिन्हें मतभेद है वे विरोध प्रदर्शन कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में भी कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

यथार्थ चित्रण में सत्य के दो रूप होते हैं—एक पक्ष है सामाजिक सत्य और दूसरा है व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक सत्य। जिस उपन्यास में सामाजिक एवं वैयक्तिक सत्यों का अंगांगिभाव से ग्रहण होता है वह उपन्यास यथार्थवादी होने पर भी सफलता के चरम बिन्दु तक पहुँच सकता है। यदि कोई लेखक यथार्थवादी दृष्टिकोण की चरम परिणति प्रकृतवाद के वर्णन में ही समझ बैठे तो यह उसका मरुभूमि में तृषाशान्ति के लिए भटकना होगा; किन्तु यशपाल के साथ कहीं भी यह बात नहीं है। प्रत्येक सफल लेखक को किसी महाकाव्य, उपन्यास या नाटक लिखते समय ऐतिहासिक चेतना, युग-चेतना तथा दार्शनिक चेतना का पूर्णरूप से अपने भीतर आकलन करना आवश्यक होता है। जो इन त्रिविध चेतनाओं को तिरस्कृत कर अपनी नूतन रचना करने में लीन होता है उसकी कला-साधना कभी सफल नहीं होती। जीवन की सफलताओं-असफलताओं और त्रुटियों का वर्णन करते समय यदि व्यापक दृष्टि-उन्मेष के साथ यथार्थ का ग्रहण न किया जाय तो सफल उपन्यास या काव्य लिखा ही नहीं जा सकता। अतः यशपाल के उपन्यासों में यथार्थ का ग्रहण जिस पूर्णता के साथ हुआ है उसे हम अनावश्यक या असंगत विस्तार नहीं कह सकते।

साम्यवादी चरित्रों के साथ पूँजीवादी चरित्रों की अवतारणा एक विरोध-वैषम्य का प्रदर्शन है जो यथार्थ के लिए सहज सम्भाव्य होकर आया है। हमारी यह धारणा किसी पक्षपात पर आधारित नहीं है कि यथार्थवादी दृष्टिकोण का सबसे व्यापक-विशद स्वच्छ और स्पष्ट, निखरा और सुथरा रूप हिन्दी में यशपाल के कथा-साहित्य में ही है। उनमें साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव होने पर भी जैसी व्यापकता और मार्मिकता है वैसी अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती। यदि यशपाल अपनी कृतियों में यथार्थवाद के साथ जीवन विकास के, मानव-चेतना

के शाश्वत विकास-पथ के संकेतों का भी उल्लेख करते जाते तो पाठक को दिशा-निर्देश भी उपलब्ध हो सकेगा। शाश्वत विकास-पथ शब्द पर सम्भवतः यशपाल को आपत्ति हो—वे कहें कि इस नश्वर और क्षणभंगुर जगत् में नित्य और शाश्वत क्या! कौन-सी ऐसी मान्यता या नीति है जिसे शाश्वत के मानदंड से स्वीकार किया जाय और किस मान्यता को क्षणिक या सामयिक समझकर छोड़ दिया जाय। इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन है कि क्षणभंगुर और नाशवान जगत् में कुछ है जो काल-कवलित नहीं होता, जो एक युग के बाद दूसरे युग में जिन्दा रहकर समाज का पथ-प्रदर्शन करता है—व्यक्ति का निर्माण करता है। वह है आस्तिक-भाव। विचारों के सूक्ष्म जगत् में श्रद्धा, विश्वास और आस्तिक भाव की अनेक स्थापनाएं हैं जो युग-युगान्तर तक प्रतिध्वनित होती हैं—प्रतिफलित होती हैं। जो भौतिक जगत् से बाहर किसी अन्य जगत् की कल्पना में विश्वास नहीं करते वे भी कतिपय ऐसे दार्शनिक मन्तव्यों को स्वीकार करते हैं जो काल की सीमा में बंधे नहीं हैं—त्रिकालातीत हैं। यदि उन्हें आत्मा का—अध्यात्म का—सत्य कहकर शाश्वत कह दिया जावे तो बुद्धिवादी विचारक को भी उन्हें शाश्वत मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। चिरन्तन सत्यों में अनास्था रखकर चिरन्तन साहित्य की सृष्टि सम्भव है, इसमें मुझे पूरा सन्देह है! यशपाल ने स्वयं अपनी एक पुस्तक की भूमिका में यह प्रश्न उठाया है और उस पर निम्न शब्दों में अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है :—

"हमारा जीवन कितना छिछला और संकीर्ण होता जाता है। स्वार्थ के दावपेंच की छीना-झपटी और मारामार हमें बदहवास किये देती है। मनुष्य की उस मानवता, नैतिकता और शिष्टता को हम खो चुके हैं जिसका विकास आत्मद्रष्टा ऋषियों ने संकीर्ण सांसारिकता से मुक्त हो कर किया था। स्वार्थ की छोटी बातों पर झगड़ कर हम भारत की आत्म-ज्ञान की संस्कृति के परम शान्ति-मार्ग को खो बैठे हैं। क्या पेट और रोटी ही सब कुछ है? इससे परे मनुष्य की मनुष्यता, संस्कृति और नैतिकता कुछ नहीं है......"

यशपाल ने अपने उपन्यासों में वर्तमान युग का ही चित्रण नहीं किया बल्कि इतिहास के उस युग में भी प्रवेश किया है जो इतिहास की दृष्टि से धुंध में समाया जा रहा है। 'दिव्या' भारत का बौद्धकालीन युग प्रस्तुत करने वाला ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें उस युग के व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति एवं गति का चित्र है। लेखक का ध्यान उस युग के चित्रण में भी दुर्बलताओं की ओर अधिक गया है—इसका मूल कारण लेखक का यथार्थवादी दृष्टिकोण

ही है। बौद्धकालीन भारत को यथार्थवादी दृष्टि से देखने में यशपालने कलात्मक सफलता तो पूरी तरह हासिल की है किन्तु उस युग की आत्मा को सच्चे रूप में वे अपने उपन्यास में प्रतिफलित कर सके हैं इस में सन्देह है। इस सन्देह का कारण भी उनकी यथार्थ अंकन की शैली ही है। दिव्या के प्राक्कथन में उन्होने मानव की जिस अजेय और दुर्दंर्ष शक्ति का संकेत दिया है वह भी यथार्थवादी विचारधारा का ही एक रूप है। वे लिखते हैं कि—"मनुष्य भोक्ता नहीं कर्त्ता है। सम्पूर्ण माया मनुष्य की क्रीडा है। मनुष्य से यदि कोई बडा है तो वह है उसका अपना विश्वास, और स्वयं उसका रचा हुआ विधान। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख वह विवशता अनुभव करता है और स्वयं ही वह उसे बदल भी देता है। लेखक की साहित्यिक प्रेरणा विधान को बदलने की मानव की इसी कामना और क्षमता में निहित है।" स्पष्ट है कि यशपाल विश्वास और विधान की किसी सातत्य भावना को स्वीकार नहीं करते। परिवर्तनशील युग और समाज की दृष्टि से विश्वास और विधान को क्रान्ति द्वारा बदलना मानव के कर्तव्य कर्म में सम्मिलित करके देखना ही उन्हें अभीष्ट है।

यथार्थवादी अंकन के प्रसंग में एक बात की ओर हम पाठक का ध्यान और आकृष्ट करना चाहते है। कुछ आलोचकों का मत है यशपाल के पात्र जन-जीवन के प्रतिनिधि नहीं हैं। वे उस वर्ग के लोग हैं जिन के लिए सेक्स और आत्म-पीडाएँ ही प्रधान समस्या हैं। इस मत का विवेचन दो पहलुओं से सम्भव है, यदि केवल पात्रों की गिनती करके उनके संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व और चित्रण का आकलन किया जाय तो सम्भवत: किसी अंश तक सेक्स-प्रधान चरित्रों की बहुतायत मिल जाय किन्तु गिनती द्वारा यह प्रश्न हल नहीं किया जा सकता। सेक्स और आत्म-पीडा के भीतर उठने वाले संघर्ष और द्वन्द्व का आभ्यन्तर पहलू हमें देखना होगा। और यथार्थ में वही पहलू इसका समाधान कर सकता है। 'ज्ञानदान' के ब्रह्मचारी नीहक और ब्रह्मचारिणी के चरित्र-चित्रण का अनुशीलन करके हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सेक्स और आत्म-पीडा के शिकार होने पर भी ये पात्र केवल सेक्स का ही चित्र प्रस्तुत नहीं करते। सेक्स के समर्थन में वे वासना, कामना, इच्छा को प्रकृति तथा प्रज्ञा का विधान मानते हैं किन्तु अन्तत: सेक्स निर्भर हो कर जीवित नहीं रहते। 'मनुष्य के रूप' के पात्रों में तो यह बात और स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है कि यशपाल के साथ व्यक्ति और समाज का व्यापक परिपार्श्व

है—केवल संकीर्ण सेक्स या आत्मपीड़न-व्यापार तक ही वे सीमित नहीं है। यशपाल ने मानव के 'अहं' को निवृत करने, उसकी सबलता-दुर्बलता आंकने के लिए जीवन की अनेक गतिविधियों के चित्र खींचे हैं, अनेक गुह्यस्तरों में प्रवेश किया और अनेक पात्रों के माध्यम से युग को चेतना देने, इसे प्रगति पथ पर बढ़ाने में योग दिया है। उनकी ये समस्त पात्र-सृष्टि यथार्थवादी दृष्टि का ही फल है।

नवम्बर, १९५५।

: १५ :

भट्टजी की नाट्य-कला के दो रूप

श्री उदयशंकर भट्ट हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि-नाटककार हैं। भट्टजी ने प्रसाद युग में ही नाटक-रचना प्रारम्भ कर दी थी इसलिए प्रारम्भ में प्रसाद की काव्यमयी शैली के अनुकरण पर ही आपने विक्रमादित्य और दाहर नाटक लिखे। इतिवृत्त की पृष्ठभूमि तथा कवित्वमयी भाषा के कारण ही इन नाटकों को प्रसाद की अनुकृति समझ लिया गया किन्तु उनकी मौलिकता का विधिवत् आकलन उस युग में नहीं हुआ। भट्टजी उसके बाद भी नाटक-रचना करते रहे और आज अपनी प्रौढ़ि पर पहुँचकर वे हिन्दी के एक सफल नाटककार समझे जाते हैं। विगत पच्चीस वर्ष के काल में उनकी नाट्य-कला दो रूपों में हमारे सामने आई है--एक का रूप है सम्पूर्ण नाटक (फुल लेंग्थ प्ले) और दूसरी एकांकी नाट्य-कला में प्रतिफलित हुई है। हम दोनों रूपों के एक-एक प्रतिनिधि नाटक की नीचे की पंक्तियों में समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

शक-विजय

भारतीय इतिहास की आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व की घटनाओं के सम्बन्ध में इतिहासज्ञों में पर्याप्त मतभेद रहा है। तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल और गणराज्यों का द्वन्द्वात्मक संघर्ष चिरकाल तक विद्वानों को एक अजीब

उलझन में फँसाये रहा। वे यह निश्चय न कर सके कि इस काल की घटनाएँ गाथा हैं या तथ्य। विक्रम सम्वत् की स्थापना के विषय में भी इसी प्रकार की सन्देह-शंका पूर्ण स्थिति बनी रही और इस युग को अनेक विद्वान् संक्रान्ति-काल समझकर उपेक्षा बुद्धि से देखते रहे। फलतः इस युग पर अन्धकार का धूमिल कुहासा स्तर-स्तर करके जमता आया है। हर्ष का विषय है कि वर्तमान युग की नवीन ऐतिहासिक शोध ने इस युग की घटनाओं पर पड़ी हुई अन्धकारपूर्ण यवनिका को हटा दिया है और आज यह युग अपने अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तनों एवं क्रान्तियों के कारण भारतीय इतिहास का आलोकमय युग बन गया है। विक्रम सम्वत् की स्थापना और भारत से विदेशी शक तथा हूण जातियों का निष्कासन अब एक विशुद्ध ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किया जाता है। भारतवर्ष पर शकों के आक्रमण तथा उनकी जय-पराजय को इधर कई लेखकों ने अपने नाटक का विषय बनाकर इस गौरव-गाथा को प्रस्तुत किया है, मालव गणतन्त्र की पुनःस्थापना और उस के मार्ग में अन्तराय-रूप उपस्थित छोटे-मोटे राज्यों का उत्थान-पतन भी इस युग की कहानी को विपुल घटना-संकुल बना देता है। सचमुच ही यह युग भारत के विशृंखल, विद्वेषपूर्ण वातावरण की झाँकी प्रस्तुत करने के साथ वीरता, एकता और सीमित राष्ट्रीयता के स्फुट प्रसंगों का परिचय देकर हमें मुग्ध किये बिना नहीं रहता। ज्यों-ज्यों इस काल की गौरव-गाथा पाठक के सामने आती है त्यों-त्यों वह औत्सुक्य, कुतूहल और उल्लास के साथ इस युग के अन्तराल में छिपे बलिदानों और पराक्रमों को जानने के लिए सत्वर उठता है।

श्री उदयशंकर भट्ट ने अपने 'शक-विजय' नाटक में इसी युग को भावभूमि बनाया है। नाटक के नामकरण में ही लेखक ने इस प्रश्न का समाधान रख छोड़ा है कि पहले भारत पर आक्रान्ता शकों की विजय हुई और बाद में भारतीयों ने उन्हें विजय किया इसलिए 'शक-विजय' का अर्थ करते समय 'शकों की भारत पर विजय' और 'शकों पर भारतीयों की विजय' दोनों ही अर्थों को ग्रहण करना चाहिए। नाटक का प्रारम्भ किसी औत्सुक्यपूर्ण घटना द्वारा न होकर स्वाभाविक शैली से हुआ है। पाठक के अन्तर्मन में उसके द्वारा उद्वेग की सृष्टि नहीं होती, किन्तु ज्यों-ज्यों नवीन पात्र सम्मुख आते हैं अपने चरित्र-विकास के साथ घटना या कथा-विकास को चरम बनाकर नाटक में तीव्र गति लाते जाते हैं। नाटक की मूल कथा के साथ पात्रों का चरित्र-विकास इतना सम्मिश्र है कि किसी भी पात्र की अवतारणा न हो अनावश्यक है और

न अस्वाभाविक। परिमित कलेवर रखने के कारण घटना, पात्र, चित्रण सभी कुछ मर्यादित और सुसम्बद्ध हैं। एक भी दृश्य नाटक में ऐसा नहीं कहा जा सकता जो अतिरंजित या सीमाक्रान्त हो कर कथावस्तु को शिथिल या नीरस बनाता हो। नाटकीय वस्तु-विन्यास के लिए लेखक ने जिन अनैतिहासिक पात्रों की कल्पना की है, उनके अस्तित्व की आधार-शिला इतनी सुदृढ है कि नाटक में वे आद्योपान्त अपने प्रभाव और उत्कर्ष के कारण पर्वत की भाँति उच्च और अटल दृष्टिगत होते हैं, फलतः पाठक या दर्शक उनके विषय में इतिहास की साक्षी माँगना भूल जाता है। कथा का मूल संकेत तत्कालीन भारतवर्ष की राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की ओर है। प्रमुख पात्रों और महत्त्वपूर्ण घटनाओं को संकलित करके कथा-सार या संक्षेप इस प्रकार है :—

"अवन्ती के राजा गर्धर्वसेन द्वारा अपनी भगिनी सरस्वती के बन्दी किये जाने पर जैन साधु कालकाचार्य ने विदेशी आक्रान्ता जाति, शकों, से चुपचाप गठबंधन किया। शकों को प्रोत्साहित करके उसने भारत पर उन्हें अभियान की प्रेरणा ही नहीं दी वरन् साधन जुटाकर उन्हें अपने आक्रमण में सफल भी बनाया; जिससे फलस्वरूप कुछ समय तक मगध देश पर शकों की विजय-वैजयन्ती फहराई। देश दासत्व की शृङ्खला में आबद्ध हो गया। शकों की बर्बर एवं नृशंस मनोवृत्ति शनैः-शनैः उनके आचरण तथा सामाजिक व्यवहार में प्रतिफलित होने लगी। जनता विक्षुब्ध हुई और शकों के अत्याचारों के प्रति आक्रोश घृणा, द्वेष और विद्रोह के भाव एक साथ उत्पन्न हुए। दुर्भाग्य से उस समय देश विभिन्न गण-राज्यों में विभक्त था, जिनमें लेश-मात्र भी पारस्परिक सद्भाव शेष न रह गया था। मालव, यौधेय, आरक, क्षुद्रमद्र आदि प्रधान गणतन्त्र थे और विदिशा, कोशल, आन्ध्र, पाटलिपुत्र आदि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी स्वार्थ-परायणता तक ही सीमित रहकर देश की समग्रता के प्रति उदासीन थे। उज्जयिनी में मतलिपुत्र ही एक ऐसे योगी थे जो समबुद्धि से सब धर्मों के लोगों को धर्म की मर्यादा बताकर मार्ग प्रदर्शन करते थे, किन्तु वैमनस्य और ईर्ष्या के उस दूषित वातावरण में उनकी ऊर्जस्वित वाणी का घोष अरण्य-रोदन बना हुआ था। अवन्ती का राजा पथ-भ्रष्ट होकर—अपने सहधर्मियों के परित्याग के कारण—विनाश को निमंत्रण दे चुका था। शकों के आक्रमण और विजय के उपरान्त देश में नैराश्य और कुण्ठा की ऐसी लहर दौड़ गई थी कि कर्मठ और जीवट के व्यक्ति भी अपने भीतर देश-स्वातन्त्र्य की क्षमता जुटा नहीं पा रहे थे। हाँ, भीतर-ही-भीतर भारतीय यह अनुभव अवश्य करते थे कि शकों को

दासता से, जैसे भी हो, मुक्ति पानी चाहिए। कार्य महान् था, शक्ति सीमित थी, प्रखर तेज वाले व्यक्तित्व का अभाव था, फिर सफलता कैसे हो। ऐतिहासिकों ने यह महत् कार्य राजा विक्रमादित्य, या राजा इन्द्रसेन या राजा कृतसेन द्वारा वर्णित किया है। 'शक-विजय' के लेखक ने इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए 'वरद' नामक व्यक्ति की अवतारणा की है। 'वरद' का ऐतिहासिक अस्तित्व स्वयं लेखक भी प्रमाणित नहीं कर पाया है, किन्तु प्राचीनों की अनिर्णीत स्थिति के आधार पर उसने भी अपना नवीन नाम रखने का साहस किया है।

नाटक के इस प्रमुख पात्र की कल्पना के सम्बन्ध में आलोचक को आपत्ति होना स्वाभाविक है। यदि कवि स्वातन्त्र्य का उपयोग करके लेखक ने ऐसा किया, तब भी ऐतिहासिक नाटक में उसके लिए प्रामाणिकता की अपेक्षा बनी ही रहती है। इतिवृत्त की ऐसी घोर उपेक्षा के साथ सहज ही समझौता नहीं किया जा सकता। श्री उदयशंकर भट्ट निःसंदेह कवि हैं, कवि को कल्पना और प्रौढ़ोक्ति दोनों अधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु नाटककार की भूमिका में आकर इन अधिकारों का उपयोग चरित्रों के विकास में भले किया जाय, पात्रों की मनमानी सृष्टि में नहीं करना चाहिए। विशेषतः प्रमुख पात्रों की अवतारणा तो इतिहास की सुदृढ़ पृष्ठभूमि पर ही की जानी चाहिए।

भट्ट जी ने पौराणिक नाटक जो लिखे हैं, उनमें भाषा और शैली का जो रूप था वह नाटक के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। किन्तु 'शक-विजय' में भट्ट जी की भाषा और शैली इतनी आकर्षक और स्वाभाविक है कि उसमें कवित्व की छाप उभरने नहीं पाई है। इतनी प्रवाहपूर्ण भाषा में यह नाटक लिखा गया है कि रस की अभिव्यक्ति कई गुनी बढ़ गई है। काव्य, संगीत, एकरूपता और प्रकृति को बचाकर ही [illegible], रस और वातावरण-निर्माण हुआ है। यह बात नहीं कि कवित्व और दर्शन को स्थान देने के लिए नाटक में अवकाश ही न था—नाटक में ऐसे चरित्रों का अभाव नहीं जो सरल वातावरण के साथ काव्य-सृष्टि के लिए अनुकूल अवसर देते हैं। गोरक्षा और [illegible] के चरित्र-चित्रण में दर्शन-वर्णन का पूरा अवसर था, [illegible] और [illegible] के विवाद में दर्शन तथा [illegible] चिन्तन को उपस्थित किया जा सकता था किन्तु लेखक ने कवित्व और दर्शन को बचाया है। नाटक के [illegible], [illegible] लेखक ने [illegible] के अनुरूप किया है। [illegible]

सामने जिस रूप में आती है वह लेखक की नाटकीय सफलता का सुन्दर निदर्शन है।

नाटक में न तो घटनाओं का जाल है और न आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिकता की उलझन ही। सांस्कृतिक चेतना पर आधारित ऐतिहासिक नाटक होने के कारण इसकी चरम सीमा (क्लाइमैक्स) शक-विजय के बाद उनसे मुक्ति पाने के प्रयत्नों में है। फलागम है देश की एकता और स्वतन्त्रता। प्रारम्भ और प्रयत्न के बाद प्रप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की स्थितियों में 'वरद' नामक चरित्र को मूर्धा पर आसीन होना चाहिए था। किन्तु उसे चौथी और पाँचवीं स्थितियों में ही लेखक ने दिखाया है। 'वरद' के चरित्र की रेखाओं को यदि लेखक प्रारम्भ से ही उभरी हुई अंकित करते तो निश्चय ही नायक की क्षमता उसमें अधिकाधिक आ जाती। वरद के चित्रण में लेखक की कलम में उतना तेज और बल नहीं जितना ऐसे पराक्रमी, साहसी और असीम क्षमता-सम्पन्न पात्र के अंकन में होना चाहिए था। वरद की विलक्षण कार्य-शक्ति और विराट् ध्येय-साधना के अनुरूप लेखक की अभिव्यक्ति ओजमयी और प्रखर नहीं हो पाई है। सम्भव है अनैतिहासिक व्यक्तित्व के कारण भीतर-ही-भीतर लेखक उसे उभारने में सशंक और सन्दिग्ध बना रहा है।

नाटक की अभिनेयता के विषय में दो शब्द और। किसी नाटक को अभिनेय बनाने के लिए सुसम्बद्ध कथा-वस्तु, सीमित कार्य-व्यापार, सरलतम अभिव्यक्ति, और मचीय साधन-सम्पन्नता का होना आवश्यक है। प्रसादजी के नाटकों में दोष-दर्शन करने वाले इन्हीं आरोपों से उन्हें अभिनय-योग्य नहीं समझते। 'शक-विजय' के विषय में यह कहा जा सकता है कि नाटक लिखते समय अभिनय की अनिवार्यता का ध्यान भले ही लेखक ने न रखा हो, किन्तु नाटक अपनी अभिव्यंजना-प्रणाली और सुसम्बद्ध कथावस्तु के कारण सर्वथा अभिनेय है और नाटककार इसमें पूर्ण सफल है। ऐतिहासिक नाटकों की अभिनेयता के लिए तत्कालीन वेश-विन्यास आदि भी अपेक्षित होता है, जिसका विवरण नाटककार ने पूरी तरह प्रस्तुत नहीं किया। आधुनिक प्रणाली में विवरण देना एक प्रकार से आवश्यक हो गया है। संक्षेप में, नाटक अपनी सीमा-मर्यादाओं में विकास के जिस उत्कर्ष तक पहुँच पाया है वह नाटककार की चरम सफलता का द्योतक है। और साथ ही हमें यह कहने में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं लगता कि इस युग की पृष्ठभूमि पर जो ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में लिखे गए हैं उनमें यह सर्वश्रेष्ठ है।

समस्या का अन्त

'समस्या का अन्त' श्री उदयशंकर भट्ट के नौ एकांकी नाटकों का संग्रह है। जीवन की विषमता को चित्रित करने के साथ लेखक ने इन नाटकों में समस्याएँ प्रस्तुत करके उनके समाधान की ओर संकेत किया है। मानव-जीवन की अनेकरूपता और विशदता के अंकन में जिस सूक्ष्मेक्षिका और कारयित्री प्रतिभा की आवश्यकता होती है वह लेखक के पास प्रचुर परिमाण में है। इसलिए कथावस्तु के साथ चरित्रों का निर्वाह इनमें समीचीन रूप में हुआ है। नौ नाटक नौ प्रकार की विभिन्न मानव-प्रवृत्तियों के परिचायक होने के साथ मानव-मन के संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की आकर्षक झाँकी भी प्रस्तुत करते हैं। विचार-वैषम्य मानव-जाति में आदियुग से चला आ रहा है, और यही सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संघर्षों का प्रेरक या उत्पादक रहा है। सफल कलाकार वह है जो वैषम्य-जनित इन द्वन्द्वों के आरोह-अवरोह को हृदयंगम करके उनको कला का विषय बना सके। मात्र कल्पना द्वारा इस प्रकार का अंकन सम्भव नहीं, गहन अनुभूति के आधार पर लेखक को मानव-जीवन के उन गुह्य स्तरों में प्रवेश करना होगा जहाँ व्यक्ति और समाज की समस्त दुर्बलताएँ और त्रुटियाँ छिपी रहती हैं। मनुष्य-स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह अपनी दुर्बलताओं को जानकर भी उनके प्रति अंजान बना रहना चाहता है और इस प्रकार की उपेक्षा-बुद्धि रखने से वे कमजोरियाँ स्वयं उसे दुर्बोध प्रतीत होने लगती हैं। अपनी दुर्बलताओं के परिहार की बात तो दूर, उनके प्रति संकेत करने का भी हमारा साहस नहीं होता। 'समस्या का अन्त' के एकांकी नाटक बड़ी ही मार्मिक एवं व्यंग्यपूर्ण शैली से हमारा ध्यान इस प्रकार की समस्याओं की ओर आकृष्ट करते हैं। समस्याओं के प्रस्तुत करने में लेखक का दृष्टिकोण सन्तुलित एवं यथार्थवादी रहा है। नाटकों के अन्तराल में निहित उद्देश्य को व्यक्त करने में नाटककार इतना सजग है कि प्रत्येक घटना और प्रसंग बुद्धिगम्य होने के साथ-साथ मोहक भी बना हुआ है। समस्या-मूलक नाटकों का उद्देश्य—मेरी अपनी दृष्टि में—जहाँ समस्या के प्रति पाठक या दर्शक का ध्यान आकृष्ट करना है, उसे समस्या के बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूप से परिचित कराना है, वहाँ क्रान्ति और प्रतिक्रिया के लिए प्रेरणा प्रदान करना भी है। यथार्थ एवं सोद्देश्य नाटक में घटनाओं के अंकन और पात्रों की गति-विधि के परिचालन में इस बात का ध्यान रखकर ही लेखक को बढ़ना चाहिए। यही समस्या-मूलक नाटक की सफलता का चरम बिन्दु है। हर्ष का विषय है कि प्रस्तुत संग्रह के

नाटकों में लेखक को स्थल-स्थल पर उत्कर्ष के इन चरम-बिन्दुओं को स्पर्श करने का अवसर मिला है ।

'समस्या का अन्त' इस संकलन का पहला नाटक है। इसी के आधार पर पुस्तक का नामकरण हुआ है।श्रुत-बुद्धि और माणविका इस एकांकी के दो प्रमुख पात्र हैं। श्रुत-बुद्धि भद्रक जाति है और माणविका वामरथ। भद्रक और वामरथ जाति में घोर शत्रुता है। वामरथों की कन्या होने पर भी माणविका, भद्रक श्रुत-बुद्धि से प्रेम करती है। जीवन की बाजी लगाकर भी वह अपने प्रेमी से मिलने आती है और अपने सहज स्नेह को संजोती है। इन दोनों की प्रणयलीला प्रकाश में आते ही दोनों जातियों के संग्राम का कारण बनती है। युद्ध छिड़ने पर दोनों जातियों के विनाश का दृश्य उपस्थित होता है। संघर्ष और सर्वनाश के कगार पर खड़ी दोनों जातियों को माणविका अपना बलिदान देकर- स्वयं अपने हाथों अपना सिर काटकर—बचा लेती है। माणविका का आत्मोत्सर्ग दो जातियों के विनाश की समस्या का अन्त प्रस्तुत करके त्याग और बलिदान का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत करता है। भद्रकों की वधू और वामरथों की कन्या माणविका दो जातियों के लिए चिर-विरोध की प्रचण्ड वह्नि को आत्मोत्सर्ग के शीतल जल से शान्त करके नाटक में नवजीवन-संचार करने में समर्थ है। उसका उत्सर्ग सभी दृष्टियों से अपूर्व, अद्भुत एवं आकर्षक है। उद्दाम प्रेम और उदात्त त्याग का जो चित्र इस स्थल पर लेखक ने अंकित किया है वह सर्वथा मार्मिक एवं कलापूर्ण है।

'जीवन' शीर्षक एकांकी एक संकेतात्मक प्रतीक-रूपक है जो इस संकलन की विशिष्ट रचना है। काम, यौवन, जरा, वासना, वसन्त, सौन्दर्य आदि इसके पात्र हैं जो अपने प्रकृत रूप के साथ भावों का भी स्पष्ट संकेत करते हैं। जीवन-विकास में इन भावों और मनोविकारों का जो स्थान है उसे प्रतीकात्मक शैली से अभिव्यक्त करने की दिशा में यह नाटक एक सफल प्रयास है। हिन्दी में प्रतीक-रूपक नया प्रयोग नहीं है। कई लेखकों ने इससे पहले भी भावों या मनोविकारों का मानवीकरण करके उनकी जीवन-व्यापी सत्ता का चित्र अंकित किया है। इस नाटक में मनोवैज्ञानिक पद्धति से जो अभिव्यंजना की गई है वह सहृदय-संवेद्य होने के कारण ग्राह्य है। काम, यौवन, जरा और सौन्दर्य की उक्तियों में लेखक ने यथार्थ का जैसा परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है वह हिन्दी के अन्य प्रतीक-रूपकों में कम ही मिलता है। जीवन की परिपूर्णता में विवेक का जो स्थान है वही स्थान नाटक के कथानक में भी विवेक नामक पात्र का है।

'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' के समझने के लिए विवेक-पात्र की उक्तियाँ देखने योग्य हैं। विवेक कहता है—"मैं चाहता हूँ, हम सब (काम, रति, यौवन, सौन्दर्य आदि) मिलकर युद्ध से पीड़ित, वैज्ञानिक अस्त्रास्त्रों से जर्जरित, स्वार्थ से बहकी, हिंसा से धूमरित, क्रोध से जलती हुई सृष्टि को जीवन देकर सुख प्रदान करेंगे, मनुष्यता की रक्षा करेंगे।—'हमारा एक ही ध्येय होना चाहिए—*मनुष्य-सृष्टि की रक्षा, मनुष्य-सृष्टि का सुख,* 'मानवता, मानवता!'—" रस और आनन्द की अनुभूति के साथ इस नाटक में लेखक ने विचार-विमर्श के सजीव प्रसंग उपस्थित किये हैं।

'बीमार का इलाज' एक व्यंग्यात्मक एकांकी है, जो अन्ध-विश्वास और मूढ़ता के वातावरण को व्यक्त करने के साथ हमारे घरों की एक जीवित समस्या को सामने लाता है। घर में किसी के बीमार हो जाने पर विभिन्न प्रणालियों की चिकित्सा को एक साथ स्वीकार करने से जो विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है उसका चित्रण इसमें है। नाटक के कथोपकथन बड़े ही मनोवैज्ञानिक और भावपूर्ण हैं—पात्रों के विकास में उनकी उक्तियाँ ही पर्याप्त हैं। इस विषम समस्या का समाधान बड़ी व्यंग्यात्मक शैली से लेखक ने डॉक्टर के इस कथन में रखा है कि "मिस्टर कान्ति मुझे इस घर में सभी बीमार मालूम पड़ते हैं।"

'गिरती दीवारें', 'वापसी' और 'अतिथि' भिन्न कोटि के नाटक हैं। 'गिरती दीवारें' उन्नीसवीं सदी के एक रूढ़ि-प्रिय, परम्परा-जर्जर अन्ध-विश्वासी रईस का सजीव वर्णन है। मर्यादा की अन्ध उपासना इस नाटक में बड़े कौशल से व्यक्त हुई है। रूढ़ि-ग्रस्त दम्भी व्यक्तियों के चित्रण में कल्पना का चमत्कार देखने योग्य है दो-एक स्थल पर कल्पना का अतिरेक भी हो गया है, किन्तु प्रसंग की अपरिहार्यता के कारण वह खटकता नहीं। लेखक का कवि-कर्म इस प्रकार के स्थलों पर उभर आया है। 'वापस' शीर्षक नाटक में स्वार्थी और धन-लोलुप व्यक्तियों के चित्रण में लेखक ने प्रमुख 'पात्र के कल्पित मृत्यु-प्रसंग की उद्भावना की है। इस दृश्य की अवतारणा में लेखक की सूक्ष्म और दूरदर्शिता तो प्रकट होती ही है साथ ही नाटकीय पात्रों के चरित्र-विकास की प्रेरणा भी मिलती है। श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपनी एक कहानी 'प्रायश्चित्त' में इस प्रकार की घटना को चित्रित किया है। 'अतिथि' एक व्यंग्यात्मक प्रहसन है। इसमें तथाकथित कलेक्टर तथा प्रचारक-वर्ग की लोभ-वृत्ति-जन्य कमज़ोरी को व्यंग्य एवं हास्य की मनोरम शैली से प्रकट किया गया है। लोभग्रस्तता

को लेखक व्यंग्य नहीं रख सका, वह स्पष्ट और प्रत्यक्ष बनकर ही नाटक में आई है। किन्तु समस्या का समवेत प्रभाव व्यंग्य ही है और उसी में नाटककार की सफलता है। यदि लोभ-वृत्ति को भी नाटककार व्यंग्य रख पाता तो नाटक बहुत ऊँचा उठ जाता। कदाचित् रेडियो-रूपक होने के कारण वह उतना सूक्ष्म चित्रण नहीं कर सका। इस नाटक द्वारा निश्चय ही लेखक ने सम्बद्ध-वर्ग के ऊपर कठोर कशाघात किया है।

'पिशाचों का नाच', 'आत्मदान' और 'मन्दिर के द्वार पर' शीर्षक नाटकों में कथानक, समस्या या समाधान की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है। अभिव्यंजना-शैली में यत्किंचित् नूतनता अवश्य है, किन्तु वह इतनी आकर्षक नहीं कि नाटकों को अपने सामान्य स्तर से ऊपर उठा सके। 'पिशाचों का नाच' भारत-विभाजन के समय हुए उत्पात और दंगों का दृश्य उपस्थित करता है। अमानुषिक अत्याचारों का वर्णन लोमहर्षक होने के साथ यथार्थ है। 'आत्म-दान' नाटक शिक्षित वर्ग की आधुनिक स्त्री की भूल और उस भूल का परिमार्जन है। पति-पत्नी में पारस्परिक सद्भाव और समर्पण की स्थापना के लिए लेखक ने 'सुषमा' की अवतारणा की है। सुषमा नाटकीय समस्या का समाधान बनकर आती है और दो व्यक्तियों के बीच रागात्मक सम्बन्धों को स्थापित करने में सफल होती है। सुषमा द्वारा सरला को दिया गया उपदेश कोरा कर्तव्य-बोध है, जो सरलता से गले के नीचे नहीं उतारा जा सकता किन्तु लेखक ने उसे सहज-सम्भाव्य बना दिया है। लेखक उसे यथार्थ अकल भले ही समझे, किन्तु उसे ज्यों-का-त्यों हृदयगम करने में एक हल्की-सी अटक—अड़चन—अवश्य है। 'मन्दिर के द्वार पर' अस्पृश्यता या अछूतोद्धार की पुरानी समस्या है। कथानक में किसी प्रकार की नवीनता नहीं—वर्णन के उद्देश्य की ध्वनि इतनी ऊँची है कि कला की काकली सुनाई ही नहीं देती। यथार्थ का स्थूल रूप इन तीनों नाटकों में उभरकर व्यवस्थित भी नहीं रह पाया है, फलतः सोद्देश्य होने के अतिरिक्त इन तीनों नाटकों में कोई विशेषता या नवीनता दृष्टिगत नहीं होती।

संक्षेप में, 'समस्या का अन्त' अपनी मौलिकता और अभिनेयता के कारण ही नहीं वरन् अपनी अनेकरूपता और विशदता के कारण भी उपादेय है। अभिव्यंजना में कला के सुन्दर अभिनिवेश के साथ लेखक ने यथार्थ का जो रूप गढ़ा किया है वह सर्वथा श्लाघ्य है। प्रायः सभी नाटक रेडियो द्वारा प्रसारित हुए हैं अतः दृश्य-विधान के स्थान पर लेखक ने अनेक स्थलों पर ध्वनि को प्रधानता दी है, अपने प्राक्कथन में लेखक ने इसका परिष्कार प्रस्तुत

कर दिया है। हिन्दी में एकांकी-नाटक-कला का विकास हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ। इस सीमित काल में ही जिन लेखकों ने एकांकी-कला को परिपूर्ण बनाया है, श्री उदयशंकर भट्ट का नाम उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एकांकी-नाटक विस्तार की दृष्टि से मर्यादित होता है; इसलिए सफल कलाकार वही है जो उन सीमा-मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए घटना-चक्र और चरित्र-विकास को पूर्णता दे सके। 'समस्या का अन्त' इस दृष्टि से सफल कृति है और वही एकांकी नाटक-कला में यथार्थ, उद्देश्य और मनोविज्ञान का समवेत प्रभाव उत्पन्न करने में अभिनव है।

कर दिया है। हिन्दी में एकांकी-नाटक-कला का विकास हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ। इस सीमित काल में ही जिन लेखकों ने एकांकी-कला को परिपूर्ण बनाया है, श्री उदयशंकर भट्ट का नाम उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एकाकी-नाटक विस्तार की दृष्टि से मर्यादित होता है; इसलिए सफल कलाकार वही है जो उन सीमा-मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए घटना-चक्र और चरित्र-विकास को पूर्णता दे सके। 'समस्या का अन्त' इस दृष्टि से सफल कृति है और वही एकाकी नाटक-कला में यथार्थ, उद्देश्य और मनोविज्ञान का समवेत प्रभाव उत्पन्न करने में अभिनव है।